कल्याण

वर्ष ३५ * अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१८, जून १९६१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् [कविता] (श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर) ...	९५७
२–कल्याण ('शिव') ...	९५८
३–त्र्यम्बकं यजामहे (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)	९५९
४–समय खोनेपर पछताना और रोना ही पड़ता है	९६१
५–लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	९६२
६–ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति (श्रीश्रीकान्तशरण-जी महाराज)	९६९
७–सारा बाग नजर आता है [कविता] (नीरज)	९७४
८–क्या श्रीमान्‌की स्त्री कभी भीख माँगती है ? (प्राध्यापक श्रीधर्मवीरजी एम्० ए०)	९७५
९–योग या भोग ? (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९७७
१०–सती-धर्मकी उपादेयता (श्रीराजेन्द्रप्रसाद-जी जैन)	९८१
११–मधुर	९८४
१२–पापका बाप लोभ [कविता] ...	९८६
१३–जडवाद–भौतिकवाद (आचार्य श्रीनरदेव-जी शास्त्री, वेदतीर्थ) ...	९८७
१४–श्रीराम-रणक्रीड़ा (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी वेदान्त-भूषण, साहित्यरत्न) ...	९९०
१५–भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं ...	९९४
१६–भजन और भोजन [कहानी] (श्री'चक्र')	९९५
१७–पुराण और कहावतें (डा० श्रीकन्हैया-लालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	९९७
१८–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददास-जी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्द-प्रसाद श्रीवास्तव)	९९९
१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	१००४
२०–आध्यात्मिक स्वराज्य [कविता] (श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ...	१०११
२१–नर्तकीकी नैतिकता (श्रीशान्तिचन्द्रजी मेहता एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)	१०१२
२२–सुखी होनेका रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	१०१३
२३–सुख-दुःखका मर्म (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ...	१०१४
२४–पढ़ो, समझो और करो ...	१०१५
२५–छिपे पापीकी प्रार्थना [कविता] ...	१०२०

चित्र-सूची

चित्र		पृष्ठ
१–ध्यानस्थ शंकर	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्	(तिरंगा) ...	९५७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

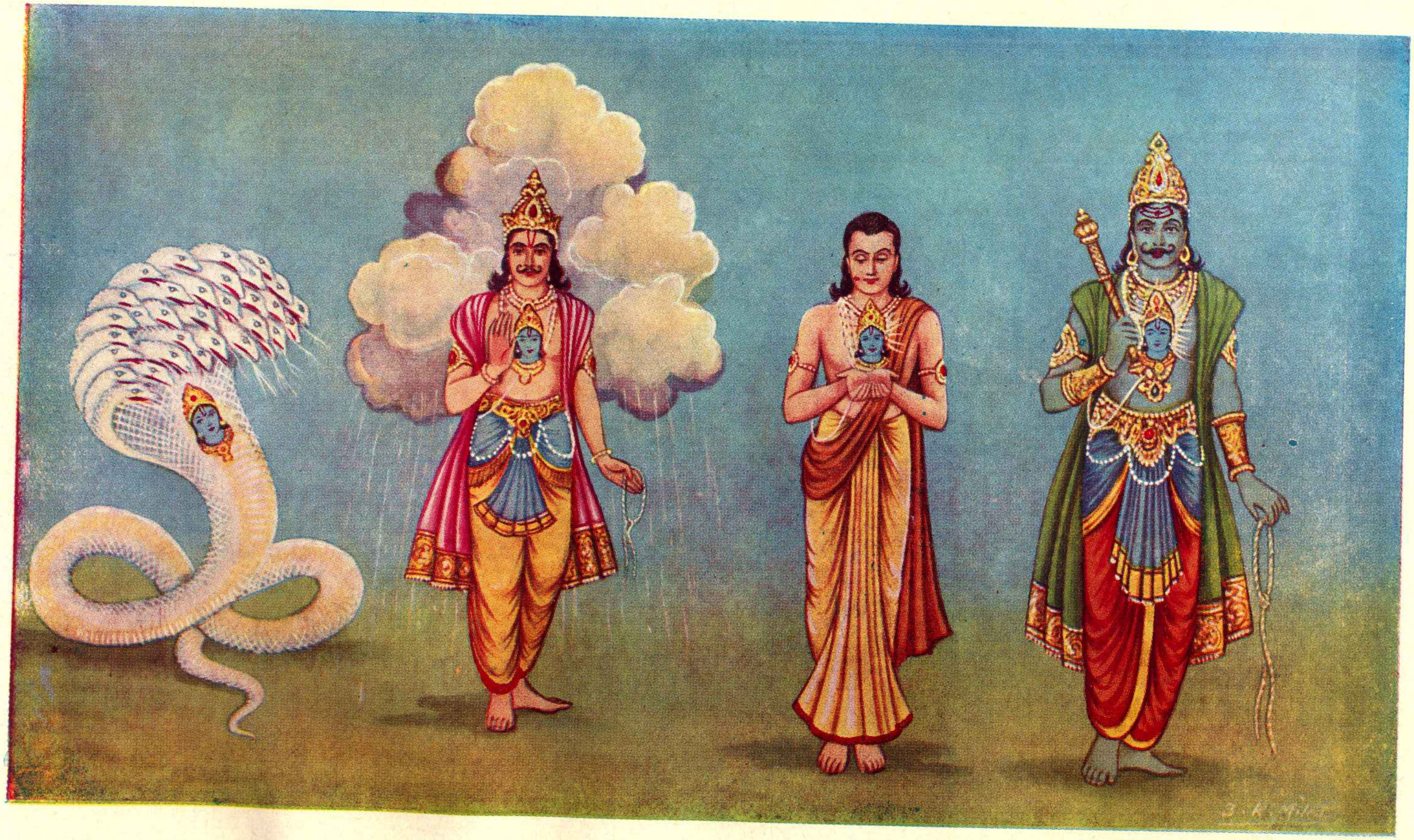

शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर आषाढ २०१८, जून १९६१ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ४१५

शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्

नागोंमें मैं शेषनाग हूँ, जलचरगणमें वरुण महान।
पितरोंमें अर्यमा, नियन्ताओंमें मैं हूँ यम बलवान ॥
सबका तेज, शक्ति, जीवन मैं, मैं ही हूँ सबका आधार।
सबमें ओतप्रोत सदा मैं, अखिल विश्व मेरा विस्तार ॥

(श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर)

याद रक्खो—संसारमें सर्वोत्तम सुखकी प्राप्तिका परम साधन है—'संतोष'। असंतोषी मनुष्य सदा ही दुखी रहेगा, चाहे उसको कुछ भी, कैसी भी वस्तु या परिस्थिति प्राप्त हो जाय। परंतु भगवद्भजन, भगवत्प्रेममें संतोष महान् विघ्नरूप है। सांसारिक भोगोंमें संतोष साधन है और भगवद्भजनमें संतोष विघ्न है। अतः भजनमें कभी संतोष मत करो। भजन जितना हो, उतना ही थोड़ा; परमार्थ-साधन जितना हो, उतना ही थोड़ा और भगवान्‌के प्रति प्रेम जितना हो, उतना ही थोड़ा।

याद रक्खो—विषयासक्त मनुष्य इससे ठीक विपरीत भोग-जगत्‌में सदा असंतोषी रहता है, जितना जो कुछ भी पाता है, उसमें सदा ही कमीका अनुभव करता है, और अधिक पाना चाहता है। उसके लिये जो कुछ करता है, उससे अधिक—और भी अधिक करना चाहता है। इसी असंतोष वृत्तिको लेकर वह अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाता रहता है, परिणाममें अपने-ही-आप अपनेको सब ओरसे जकड़कर बुरी तरह फँस जाता है तथा रात-दिन चिन्ता, भय, विषादसे घिरा रहता है। कभी किसी भी अवस्थामें वह शान्ति नहीं पाता। परंतु परमार्थ-साधन या भजनमें सदा संतोष रखता है। प्रथम तो, उसकी आवश्यकता ही नहीं समझता; जहाँ कुछ करता भी है तो वह बहुत ही थोड़ा, नियमित, अल्पकालके लिये ही। और मान लेता है कि मैं बहुत कर रहा हूँ। इसीसे परमार्थ-साधन या भजन बनता नहीं और इसीसे सच्चे शान्ति-सुखकी प्राप्ति होती नहीं।

याद रक्खो—दिनभरके चौबीस घंटेमें कुछ मिनट यदि कोई भजनमें लगाता है और तेईस घंटेसे भी अधिक भोग-सेवन तथा भोग-साधनमें लगाता है तो उसका मन सहज ही भोगोंमें रहता है, भगवान्‌में नहीं लग पाता। भगवान्‌में मनका न लगना ही मानव-जीवनकी व्यर्थता है और बहुत बड़ा प्रमाद है।

याद रक्खो—भोगासक्ति तथा भोगकामनासे जीवन भोगपरायण बन जाता है। भोगपरायणतासे विवेक नष्ट हो जाता है तथा विवेकभ्रष्ट मनुष्य ऐसे कर्म करने लगता है, जो उसे कभी नहीं करने चाहिये और जिनको वह खुद बुरा मानता-कहता चला आ रहा है। उन पाप-कर्मोंको करते-करते उनसे पहले तो घृणा-बुद्धि निकल जाती है, फिर उनमें समीचीन बुद्धि हो जाती है, उनकी आवश्यकताका अनुभव होने लगता है और तदनन्तर पापाचरणमें वह अपना गौरव मानने लगता है—अतः उसका जीवन पाप-जीवन बन जाता है और फलतः वह अनन्त पाप-राशिको लेकर मरता है। यों उसका मानव-जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं होता, वह मानव-जीवनके परम तथा चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे ही वञ्चित नहीं रहता; वह पापके परिणामस्वरूप जन्म-जन्ममें कूकर-शूकरादि, पिशाच-राक्षसादि तथा कृमि-कीटादि आसुरी योनियोंमें जाने तथा भीषण नरक-यन्त्रणाएँ भोगनेको बाध्य होता है। अतः उसका मानव-जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं जाता, घोर अनर्थ उत्पन्न करनेवाला होता है। इसलिये भोगमें सदा ही संतोष रक्खो—जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहो; किंतु भजनमें—परमार्थ-साधनमें कभी संतोष मत करो। उसको सदा बढ़ाते ही जाओ।

याद रक्खो—भगवद्भजन ही असली धन है, वही परम सम्पत्ति है। भजन न होना ही घोर दारिद्र्य तथा महान् विपत्ति है। भजनमें ही परम बुद्धिमत्ता एवं सौभाग्य है, भजन न होना ही महान् मूढ़ता एवं दारुण दुर्भाग्य है। भजन ही पुण्य है तथा भजन न होना ही भयंकर पाप है। अतएव दिन-रात भजन करो। मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नाम-गुणका गान तथा शरीरसे होनेवाले प्रत्येक कल्याणमय कार्यके द्वारा भगवान्‌का सेवन-पूजन करो। यों दिन-रात भगवद्भजनमें लगे रहकर जीवनको भजनमय बना दो। तभी मानव-जीवन मानव-जीवन है और तभी उसकी सार्थकता है।

'शिव'

त्र्यम्बकं यजामहे

(लेखक—तत्त्व-चिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

अन्वय—त्र्यम्बकं सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् यजामहे। मृत्योर्बन्धनात् उर्वारुकमिव मुक्षीय अमृतात् मा (मुक्षीय)।

'त्र्यम्बकम्'

वैदिक ऋचाओंके अर्थ त्रिविध हैं। 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'पर'। केवल पदोंके संसर्गसे जो अर्थ निकलता है, वह 'स्थूल', पदोंकी आलोचनासे निःसृत अर्थ 'सूक्ष्म' और अक्षरार्थके आशयसे निकलनेवाला अर्थ 'पर'* कहलाता है। तत्त्वचिन्तकोंने इसके अतिरिक्त क्रम भी माना है कि आधिभौतिक अर्थ 'स्थूल', आध्यात्मिक अर्थ 'सूक्ष्म' और आधिदैविक अर्थ 'पर' कहलाता है। इस सिद्धान्तका अनुसरण यास्क तथा स्कन्दस्वामी आदि सभी आचार्योंने किया है। इस पद्धतिके आधार-क्रमसे 'त्र्यम्बकम्' इस पदका अर्थ इस प्रकार है।

'अहिर्बुध्न्य'के मतमें—'तिस्रः अम्बिकाः (मातरः) यस्य स त्र्यम्बकः' अर्थात् इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति—ये तीनों विश्वकी निर्माणकर्त्री माताएँ हैं। यह शक्तित्रय जिसके वशमें हो, वह 'त्र्यम्बक' कहलाता है। वैदिक परिभाषामें इन तीनों माताओंको गायत्री छन्द (ज्ञानशक्ति), त्रिष्टुप् छन्द (इच्छाशक्ति) और जगती छन्द क्रियाशक्ति (अर्थशक्ति) कहा जाता है। पौराणिकोंकी परिभाषामें क्रियाशक्तिका ही दूसरा नाम अर्थशक्ति है। तत्त्ववेत्ता कणादने इन तीनोंको ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—इन शब्दोंसे परिभाषित किया है।

पौराणिकोंके मतमें **'त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य स त्र्यम्बकः'** अर्थात् जिसके अग्नि, चन्द्र और सूर्य—ये तीन नेत्र (प्रकाश) हों, वह त्र्यम्बक कहलाता है। सांख्यशास्त्र-प्रणेता कपिलने सत्त्व, रज और तम—ये तीन नेत्र माने हैं। याज्ञिकोंने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—ये तीन नेत्र कहे हैं। मीमांसकोंकी परिभाषामें ऋग्, यजुः और साम—ये तीन वेद ही नेत्र-त्रय हैं। जैसा कि कुमारिल भट्टने 'तन्त्र-वार्तिक' में मङ्गलाचरण करते हुए कहा है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥

इसके अतिरिक्त शाण्डिल्यने 'भक्तिमीमांसा'में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनोंको त्र्यम्बक (महादेव)-के नेत्र माना है। ज्यौतिषियोंके मतमें भूत, भविष्य, वर्तमान (कालत्रय), वेदान्तवेत्ताओंके मतमें चित्त, अहंकार, बुद्धि (अन्तःकरणत्रय) और योगियोंके मतमें अ, उ, म (प्रणवके तीन अक्षर) महादेवके तीन नेत्र हैं।

'सुगन्धिम्'

जो आत्मतेजसे सब तत्त्वोंको शोभन (सुगन्धमय) बनाता है अर्थात् उन-उन वस्तुओंको स्व-स्वरूपमें स्थिर रखता है और अपने अन्तःप्रवेशसे उन वस्तुओंको अपना सुगन्धमय स्वरूप देकर उन्हें सहसा विकृत नहीं होने देता, वह परमात्मा इस मन्त्रमें सुगन्धि शब्दसे अभिहित है। अफगानिस्तानके बौद्धमतावलम्बी विद्वान् 'वसुबन्धु' ने समगन्ध-तत्त्वको अविकृति एवं पुष्टिप्रद माना है तथा विषमगन्ध-तत्त्वको दुर्बलता और विकारप्रद माना है। समगन्ध-तत्त्व ही पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी स्थूलता तथा पदार्थोंकी अविकृतिका कारण है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें सुगन्ध-पुष्पोंका धारण आरोग्य और पुष्टिका कारण कहा गया है।

---

* स्थूलः संसर्गजो योऽर्थः सूक्ष्मः पदविभावितः।
अप्रमेयादिभिर्भावैरक्षरस्थः परः स्मृतः॥

'पुष्टिवर्द्धनम्'

परमात्मा भी इसीलिये पुष्टिवर्द्धक है। पुष्टि नाम लक्ष्मीका है—'पुष्टिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी' (आनन्दार्णव तन्त्र)। इसे 'भूति' भी कहते हैं। यही तान्त्रिकोंकी परिभाषामें शक्ति, पौराणिकोंकी परिभाषामें माया और तत्त्वचिन्तकोंकी परिभाषामें प्रकृति कही जाती है। उसे जो बढ़ाता है, अर्थात् सूक्ष्मावस्थासे स्थूलावस्थामें लाकर उसे विविध रूपोंमें परिणत कर देता है, वही परमात्मा पुष्टिवर्द्धन है।

'यजामहे'

'यजामहे'का अर्थ है कि हम (जापक) त्र्यम्बक परमात्माके लिये अपने आपको समर्पितकर उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।* 'यजामहे' यह पद 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस धातुसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है—यज्ञ। मीमांसकोंने स्थूल द्रव्य (हवन-पूजासामग्री) के माध्यमसे आध्यात्मिक शक्तियोंका आधिदैविक शक्तियोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेको 'यज्ञ' कहा है। इस मीमांसक सिद्धान्तसे 'यजामहे' इस पदका अर्थ यह हुआ कि स्थूल पदार्थोंके माध्यमसे प्रस्तुत तीन शक्तियोंके स्वामी महान् देवसे अपनी आत्माका सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। वह महान् देव अमर होनेसे मृत्युका, प्रकाशमय होनेसे अन्धकारका एवं स्थाणु होनेसे अस्थिरताका प्रतिपक्षी (विरोधी) है और अमृत, प्रकाश तथा स्थिरभावका उद्गमस्थल है।

'मृत्योर्बन्धनात् उर्वारुकमिव मुक्षीय।'

अतः हम भी वेदोंमें निर्दिष्ट सौ प्रकारकी रोगादि मृतियों, अष्टविध अज्ञानपर्वों और सतत परिणामशील जन्म-मरणरूपी संसरणात्मक बन्धनसे मुक्त होकर उसी प्रकार मृत्युञ्जयत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, जिस प्रकार पका हुआ फल अक्लेशसे बन्धन-मुक्त हो जाता है। यहाँ मृत्यु शब्द अज्ञान, प्राणापहारक शक्ति, बन्धनात्मक संसार—इस अर्थत्रयमें प्रयुक्त हुआ है। अज्ञानवाचक मृत्यु शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—

'मतिं ज्ञानं त्यजति अनेन इति मृत्युः।'

जिससे मनुष्य ज्ञानरहित हो जाता है, वह अज्ञान मृत्यु है। प्राणापहारक शक्तिवाचक मृत्यु शब्दकी परिभाषा है—

'मृतिं तनोति जन्तूनामिति मृत्युरिति स्थितिः।'

जो प्राणियोंके प्राणोंका प्रतिक्षण संहार करती है, वह मृत्युशक्ति है।

'मृतिसंतानरूपत्वान्मृत्युः संसार उच्यते।'

अर्थात् मरण-धर्मा होनेसे संसार भी मृत्यु कहलाता है। इन तीन प्रकारकी मृतियोंसे मुक्ति दिलाना ही इस मन्त्रका महान् उद्देश्य है।

'अमृतात् मा मुक्षीय'

भावार्थ यह है कि अमर, प्रकाशरूप, सतत एकरूप ब्रह्मके साथ जापकने जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उससे जापक भी अमर, प्रकाशमय और स्थिर होकर रहे और उस अमृतमय परमात्मासे उसका सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न न हो। इस मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माके सनातन सम्बन्धकी स्थिरता और आत्माका स्वस्त्ययन (क्षेमीभाव) जापकके लिये अभिलषित है।

भिन्न-भिन्न कामनाओंकी प्राप्तिके लिये विभिन्न वैदिक मन्त्रोंका विनियोग 'ऋग्विधान' आदि ग्रन्थोंमें विहित है। अरिष्ट-निवारण और सुख-समृद्धि तथा सुस्वास्थ्यकी अभिवृद्धिके लिये 'त्र्यम्बकं यजामहे' इस अनुष्टुप् ऋचाके जपका विधान है। यह ऋचा 'महामृत्युञ्जय' नामसे भी प्रख्यात है। इस महामन्त्रके जपका सुन्दर और संवादी (अव्यर्थ) परिणाम मन्त्रके विशद अर्थसे प्रतीत हो रहा है।

* यजतिर्द्रव्यसंत्यागः कांचिदुद्दिश्य देवताम्।

'साधनमाला' ग्रन्थकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक मन्त्रके अक्षरोंमें विभिन्न वर्णवाली तेजोरश्मियाँ विद्यमान रहती हैं। जापक जब अपने अभीष्ट मन्त्रका जप करता है, तब वे रश्मियाँ साधककी भावनाओंके साथ शरीरके रोमकूपोंसे चतुर्दिक् बाहर निकलती हैं और अंकुशाकार होकर उन विभिन्न साध्योंका आकर्षण करती हैं, जिन्हें साधकने वाञ्छनीय और प्राप्तव्य बनाया है। उक्त ऋचाको अनवरत जपनेसे ऋचाके तेजोमय वर्ण उपर्युक्त सिद्धान्तसे जापकके लिये सुगन्ध, पुष्टि और अमरताको आकृष्ट करते हैं; जिनसे विकृति, दुर्बलता और अकाल-मृत्युका अभिभव हो जाता है।

एतत्सदृश एक मन्त्र और है—जिसमें 'पुष्टिवर्द्धनम्'के स्थानमें 'पतिवेदनम्' और 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'की जगह 'इतो मुक्षीय मामुतः' पाठ है। 'शतपथब्राह्मण'में इस मन्त्रके जपका विधान उन विवाहयोग्य कन्याओंके लिये है, जिन्हें वाञ्छनीय पति-प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है। पहला मन्त्र यदि पुरुषोंके लिये मृत्युञ्जय है तो दूसरा वरार्थिनी कन्याओंके लिये पतिंजय है। दूसरे मन्त्रमें कामना की गयी है कि विवाहित कन्या पितृ-कुलसे भले ही छूट जाय किंतु पतिकुलसे उसका वियोग न हो; क्योंकि पतिकुलका सम्बन्ध जीवनपर्यन्त और उसके आगे भी अच्छेद्य है।

समय खोनेपर पछताना और रोना ही पड़ता है

एक दीन दरिद्रकी दुर्दशापर दयार्द्र होकर संतने कृपा की। वे एक दिन अकस्मात् आकर बोले—'भैया! तुम सदा ही अभावमें पड़े दुखी रहते हो, यह लो पारस, मैं तुम्हारे लिये इसे बड़ा प्रयत्न करके कुछ सीमित समयके लिये लाया हूँ। इसको लोहेसे स्पर्श कराकर सोना बना लो चाहे जितना और दरिद्रतासे छूटकर सुखी हो जाओ सदाके लिये। पर इस कामको सबसे पहला तथा सबसे अधिक जरूरी समझकर तुरंत कर लेना। यह पारस तुम्हें केवल एक सालके बँधे समयके लिये ही मिला है। यह समय निकल गया तो फिर पछताना पड़ेगा।'

दीनने कहा—'महाराज! बड़ी कृपा की। मैं इस काममें देर कैसे करूँगा? आप मुझे दे तो जाइये।'

संतने पारस देकर फिर उसे सावधान किया—'देखो अवसर हाथसे निकल न जाय'—और वे चल दिये। इसने सोचा, पारस मिल ही गया है, मिनटोंमें सोना बना लेंगे। पर पहले लोहा तो इकट्ठा करें। लोहेके बजारमें गया। किसीने कहा 'लोहेका बाजार तेज है। कुछ दिनोंमें मंदा होगा, तब खरीदेंगे।' और शीघ्र ही धनी होनेके चावमें—घरमें जो कुछ था सब बेच-बाचकर तथा मिला जितना ऋण लेकर वह प्रमादमें लग गया। इन्द्रियोंके द्वारा अबाध विषयसेवन करने लगा। शराब पीने लगा। दिन-रात नशेमें चूर रहनेके कारण भूल गया समयकी बात और पारसकी कथा। समय बीतता ही है। कालकी गति कभी रुकती नहीं। प्रमादमें ही साल भरका समय पूरा हो गया। संत आये। उन्होंने तो अब इसकी और भी दुर्दशा देखी। प्रमाद-मदिरा-मत्त इसने संतका स्वागत भी नहीं किया। संत बेचारे क्या करते। दुखी मनसे पारस वापस लेकर लौट गये। सोना तो बना ही नहीं। घर-बार बिक गये तथा बुरी तरह कर्जदार होकर महान् दुखी हो गया।

मानव-शरीर भगवान्‌ने दया करके दिया—पारसमणि। भगवत्प्राप्तिरूप सोना बनानेके लिये। पर मानव-शरीरका समय है सीमित तथा निर्दिष्ट। प्रमादमें ही जीवन खो देनेवालोंको उपर्युक्त दीनकी तरह रोना तथा पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा!

लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके कर्म अलौकिक और दिव्य होते हैं। उनके कर्मोंका रहस्य समझना चाहिये। उनके लिये न तो कोई कर्तव्य ही है और न कुछ प्राप्तव्य ही। उनकी सारी चेष्टाएँ केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं। अतः उनकी प्रत्येक क्रियामें दिव्य अलौकिकता झलकती है। उन क्रियाओंमें न तो कर्तापन ही है और न कर्म तथा उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामना ही है। अतः उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है, उनकी क्रियाओंके रहस्यको समझनेपर ही मनुष्यके चित्तमें प्रतिक्षण प्रसन्नता और शान्ति होती रहती है। भगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुष कर्म करते नहीं, उनके द्वारा शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते रहते हैं, इसीलिये उनकी क्रिया आदर्श मानी गयी है। वही साधकके लिये साधन है। जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे महात्माओंके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

यद्यपि संसारमें उन महापुरुषोंके लिये कोई भी कर्म न तो उपादेय है और न हेय, फिर भी संसारके हितकी दृष्टिसे उनकी क्रिया शास्त्रके अनुकूल ही होती है, शास्त्रके विरुद्ध तो होती ही नहीं। उनके द्वारा जो शास्त्रानुकूल क्रिया होती है, वह आसक्ति (राग)-वश नहीं, स्वाभाविक ही होती है। तथा उनके द्वारा जो शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग होता है, वह भी द्वेषबुद्धिसे नहीं, उनके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म स्वाभाविक ही नहीं होते (गीता १८। १०)। अहंता, ममता और स्वार्थका अभाव होनेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ परम शुद्ध, अलौकिक और अनुकरणीय होती हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर पवित्र तथा अलौकिक हो जाते हैं, अतः उनके संसर्गके कारण भूमि आदि जड पदार्थ और प्राणी पवित्र हो जाते हैं। शास्त्रमें बतलाया गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन॥
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।

(स्कन्द० माहे० कौमा० ५२। १३७ का उत्तरार्ध १३८ का पूर्वार्ध)

'जिसका चित्त मुक्तिके मार्गस्वरूप आनन्दके समुद्र परब्रह्ममें तल्लीन एवं मग्न है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी उसके कारण भाग्यवती हो जाती है।'

ऐसे महापुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। भगवान्ने उत्तरगीतामें बतलाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

(१। २३)

'जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य हो चुका है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि कुछ कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।'

इसी प्रकार भगवत्प्राप्त पुरुषके लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती; क्योंकि प्राप्त करने योग्य सच्चिदानन्द परमात्माकी उन्हें प्राप्ति हो चुकी है, अतः

उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं। वे आप्तकाम हैं। उनमें कामनाओंका अत्यन्त अभाव है। इसलिये उनका किसी भी प्राणी या पदार्थसे किंचिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं रहता। उनकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें होनेके कारण उनका अपने देहसे भी कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें नित्यतृप्त और संतुष्ट हैं, इसलिये न तो उनके लिये कोई कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही। किंतु जिसकी ऐसी स्थिति नहीं है, उस कल्याणकामी पुरुषको अहंता-ममतासे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका अनासक्तभावसे आचरण करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

अतः अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद और काम्यकर्मका सर्वथा परित्याग करके गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तकमें वर्णित उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंके संग्रहरूप कल्याणकारिणी दैवी सम्पदाका सेवन करना चाहिये तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। सदा अनासक्तभावसे वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यकर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनके द्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये कर्म होते रहते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सामान्य और विशेष कर्मोंका त्याग शास्त्रमें किसी भी हालतमें नहीं बतलाया गया है, वरं साधकके लिये उनको सावधानीपूर्वक करनेका शास्त्रमें विधान है एवं सिद्धके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी उसके द्वारा सावधानीपूर्वक लोकहितके वैध कर्म होते रहते हैं, जैसे राजा जनक, अश्वपति आदि अनेक महापुरुषोंके द्वारा कर्म हुए थे। भगवान्ने गीतामें कहा है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

(३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

राजा जनक बहुत उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने भी उनके पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलाया गया है कि एक बार श्रीशुकदेवजीने अपने पिता श्रीवेदव्यासजीसे मोक्ष-धर्मके विषयमें प्रश्न किया। श्रीवेदव्यासजीने उनको इसे जाननेके लिये जनकके पास जानेको कहा। तब वे मिथिला गये। नगरद्वारके पास पहुँचकर वे निःशंकभावसे ज्यों ही उसमें प्रवेश करने लगे, त्यों ही द्वारपालोंने उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया। श्रीशुकदेवजी वहीं खड़े हो गये। उनके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हुआ। उस समय एक द्वारपालको अपने व्यवहारपर पश्चात्ताप हुआ। उसने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उन्हें राजभवनकी दूसरी ड्योढ़ीमें पहुँचा दिया। वहाँ वे एक जगह बैठकर मोक्षतत्त्वका ही चिन्तन करने लगे। धूप और छाया दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी। फिर राजमन्त्रीने उनको तीसरी ड्योढ़ीमें ले जाकर प्रमदावनमें पहुँचा दिया। तब उनके पास पचास स्त्रियाँ जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत,

परम सुन्दरी और नवयुवती थीं, आयीं और उन्होंने श्रीशुकदेवजीका पूजन किया तथा उन्हें स्वादिष्ट अन्नका भोजन कराया। तत्पश्चात् वे उनको प्रमदा-वनकी सैर कराने लगीं। उस समय वे हँसती, गाती और नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीडाएँ करती थीं। मनके भावको जाननेवाली वे सुन्दरियाँ श्रीशुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं; किंतु श्रीशुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध था। वे इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न हर्ष होता था न क्षोभ ही। वे संशयरहित थे और सदा कर्तव्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सायंकालके समय हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रात्रिके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ ही बैठे रहे। रात्रिके दूसरे-तीसरे पहरमें उन्होंने यथोचित निद्रा ली, जब दो घड़ी रात शेष रही तभी वे उठ गये और शौच-स्नानके अनन्तर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं।

तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक श्रीशुकदेवजीके पास आये। उनको उस अवस्थामें देखकर उन्होंने उनका विधिपूर्वक पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजासे कुशल-समाचार पूछा। फिर राजाके द्वारा उनके आगमनका कारण पूछे जानेपर उन्होंने मोक्षके विषयमें प्रश्न किये। उनका राजाने यथोचित उत्तर देकर अन्तमें यही कहा—'ब्रह्मन्! आपको विवेक प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है और आपमें विषय-लोलुपताका सर्वथा अभाव है। परंतु विशुद्ध दृढ़ निश्चयके बिना कोई परमात्म-भावको प्राप्त नहीं होता है। आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है, नृत्य और गीतमें आपकी उत्कण्ठा नहीं है। किसी भी विषयके प्रति आपके मनमें राग उत्पन्न नहीं होता है। आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं, अतः मैं तथा दूसरे बुद्धिमान् पुरुष भी आपको उस अक्षय एवं अनामय परम मार्ग मोक्षमें स्थित मानते हैं। जो मोक्षका स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?'

राजा जनकका कथन सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीशुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो कृतार्थ हो गये एवं वहाँसे लौट आये। (देखिये महा० शान्ति० अ० ३२५ से ३२७ तक)।

इस आख्यानमें ज्ञानी महात्मा जनकका स्वागत-सत्कार करना, प्रश्नोंके उत्तर देना आदि शास्त्रविहित कर्तव्य-पालनरूप कर्ममें सावधानी एवं परम विरक्त श्रीशुकदेवजी-की शौच-स्नान, संध्योपासनादि कर्मोंमें तत्परता हमें लोकसंग्रहार्थ कर्मका लक्ष्य कराती है।

इसी प्रकार राजा अश्वपतिके पास बड़े भारी कुटुम्बी और परम श्रोत्रिय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक—ये छः ऋषि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गये थे। राजाने उनका बहुत सत्कार किया और कहा—'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्य पीनेवाला है, न कोई परस्त्रीगामी है; फिर कुलटा स्त्री तो होगी ही कैसे?* किंतु सभी अग्निहोत्री और विद्वान् हैं। मैं यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं उसमें प्रत्येक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा। आप यहाँ ठहरिये।' इसपर उन्होंने कहा—'हम तो वैश्वानर परमात्माके तत्त्वको जानने-के लिये आये हैं।' यह सुनकर राजाने सबको पृथक्-पृथक् ज्ञानका उपदेश दिया। वे सब ज्ञान प्राप्तकर अपने-अपने स्थानको लौट गये।

---

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य० अ० ५ खं० ११ म० ५)

इन महापुरुषोंकी क्रियाएँ लोकसंग्रहके लिये ही थीं। गीतामें भी अर्जुनके प्रति भगवान् लोकसंग्रहको ही लक्ष्य करके कहते हैं। ऐसे लोकसंग्रहार्थ कर्म ज्ञानी पुरुषके द्वारा तो स्वाभाविक होते ही हैं, साधक भी उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण कर सकता है। लोकसंग्रह शब्दका अर्थ है लोगोंको इकट्ठा करना। भाव यह है कि संसारमें लोग जो नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर परमात्मासे विमुख और छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, उन सबको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें लगाना, लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे उनको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना और शास्त्रविहित कर्मोंको अनासक्तभावसे स्वयं करते हुए उनसे आदर्श कर्म करवाना, यही लोकसंग्रह है; क्योंकि जिस मार्गसे महापुरुष चलते हैं, वही मार्ग असली मार्ग है। महाभारतमें यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

> **तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना**
> **नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।**
> **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां**
> **महाजनो येन गतः स पन्थाः॥**
> (महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं प्रतिष्ठा नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं और कोई एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। धर्मका तत्त्व हृदयरूपी गुफामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग वास्तविक मार्ग है।'

इसीलिये अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्य महापुरुषोंका अनुकरण करते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

> **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
> **स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**
> (३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो भी आचरण करता है, अन्य मनुष्य-समुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

लाखों मनुष्योंमें कोई एक ही महापुरुष होता है (गीता ७। ३)। उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके कर्मोंमें स्वार्थ, आसक्ति, ममता और अभिमानका अभाव होनेके कारण उनके कर्म पवित्र और अलौकिक होते हैं, जिससे दूसरे पुरुषोंपर उनका प्रभाव पड़ता है। पद-पदपर उन कर्मोंकी विलक्षणता देखकर लोग आकर्षित होते हैं एवं उनका अनुकरण करके अपने परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये साधनमें तत्पर हो जाते हैं। उन महापुरुषोंके कर्मोंमें कहीं दिखाऊपन नहीं होता। उनके वचन भी सत्य, प्रिय, हितकर और प्रामाणिक होते हैं। अतः उनके वचनोंकी कोई अवहेलना नहीं करता। उन महात्मा पुरुषोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, आचरण, वाणी—सभी पवित्र और विलक्षण होते हैं; इसलिये उनके दर्शन, आज्ञापालन, सेवा, नमस्कार और वार्तालाप करनेसे मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है (गीता ४। ३४-३५)। ज्ञानी महात्माके कर्म अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार होते हैं; किंतु वे सभी वर्ण और आश्रमके मनुष्योंके कर्तव्यकर्मोंको स्वयं करके नहीं दिखला सकते हैं। अतः वे कल्याणकामी साधकोंको उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार उनके कर्तव्यकर्मोंको वाणीद्वारा ही बतलाया करते हैं, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करनेसे मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है (गीता १३। २५)।

ज्ञानी पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं होता, फिर शास्त्रविपरीत कर्म तो उनके द्वारा हो ही कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो लोग भ्रष्टाचारी होकर नष्ट हो सकते हैं; किंतु महापुरुषोंकी क्रिया श्रद्धा-विश्वासपूर्वक होती हुई देखकर कोई भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, बल्कि लोग

उनके शुभ आचरणोंको देखकर उनके अनुसार सावधानी-के साथ निःस्वार्थभावसे कर्म करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

अबतक भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके कर्मोंकी पवित्रता, दिव्यता और अलौकिकता एवं उनके लिये कर्तव्य तथा प्राप्तव्यका अभाव बतलाया गया। अब भगवान्‌के विषय-में बतलाया जाता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(३। २२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

भगवान् तीनों लोकोंके रचयिता, व्यापक और संरक्षक होनेपर भी उनमें कर्तव्यका अभाव है (गीता ४। १३)। जब मुक्त पुरुषके लिये ही कोई कर्तव्य नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३। १७) तब भगवान् तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप और सबके कर्तव्यका विधान करनेवाले हैं। उनके लिये तो कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है। मुक्त पुरुष तो इस मर्त्यलोकमें ही निवास करता है, इसलिये यहाँ उसका कोई कर्तव्य नहीं है; किंतु भगवान् तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं। वे समस्त लोकोंमें समभावसे सदा निवास करते हैं, इसीलिये भगवान्‌ने यह बात कही कि मेरा तीनों लोकोंमें कहीं किंचिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं है। इसी प्रकार प्राप्तव्यके विषयमें समझ लेना चाहिये। मुमुक्षु पुरुषको तो जीवन्मुक्त पद प्राप्त करना है किंतु जीवन्मुक्तको तो कुछ भी नहीं प्राप्त करना है; क्योंकि वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य प्राप्त है तथा भगवान् तो सदा ही आप्तकाम हैं, सब कुछ उन्हें प्राप्त ही है; सब कुछ उनका ही है। जब उनके लिये कोई अप्राप्त वस्तु ही नहीं, तब फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना है ही नहीं।

इस प्रकार भगवान्‌के लिये कर्तव्य और प्राप्तव्यका अत्यन्त अभाव है, फिर भी वे हेतुरहित परम दयालु और परम प्रेमी होनेके कारण सबके कल्याणके उद्देश्यसे उनको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें लगानेके लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करके उनके सामने आदर्श रखते हैं। भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म संसारका कल्याण करनेवाले परम शुद्ध, दिव्य, अलौकिक और लीलामय हैं। अतः भगवान्‌के कर्मोंका अनुकरण करनेसे और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कल्याण हो जाता है इसमें तो कहना ही क्या है। श्रद्धा और प्रेमसे उनके चरित्रोंको देख-देखकर ही मनुष्य परम पवित्र हो परमपद-का अधिकारी बन जाता है। इसलिये साधक और सिद्ध सभी मनुष्योंको लोकहितके लिये लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका निःस्वार्थभावसे आचरण करना चाहिये। जब कर्तव्य और प्राप्तव्यका अभाव होनेपर भी स्वयं भगवान् ही कर्म करते हैं तो दूसरोंकी तो बात ही क्या है? भगवान् हम लोगोंमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्म करके शास्त्रोंको आदर देते हुए उनको प्रमाणित करते हैं। उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता, अलौकिकता और माधुर्य भरा रहता है, इस कारण भगवान्‌के चरित्रको देखकर लोग आकर्षित हो जाते हैं और बड़े उत्साहसे कर्म करने लग जाते हैं। इससे धर्मकी स्थापना होती है जो भगवान्‌के अवतार लेनेका एक प्रधान कारण है। यदि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् मर्यादाकी स्थापना करके स्वयं उस मर्यादामें न चलें तो बड़ी हानि होती है, इससे सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच सकती है। भगवान् कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ३। २३)

'क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर

कर्मोंमें न बर्तूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको बहुत-से मनुष्य तो साक्षात् भगवान् ही मानते थे और बहुत-से उनको उच्चकोटिके महापुरुष मानते थे। अतएव भगवान्‌के द्वारा कर्मोंका सुचारुरूपसे किया जाना संसारके लिये सभी प्रकारसे कल्याणकारक था। यदि भगवान् सावधान हुए सुचारुरूपसे कर्मोंका आचरण नहीं करते तो लोग कर्मोंको व्यर्थ समझकर कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलना कर देते; क्योंकि भगवान् या कोई महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, उनके देखादेखी लोग भी वैसा ही करने लग जाते हैं। यदि किसी ज्ञानी पुरुषके द्वारा ज्ञानकी छठी, सातवीं, भूमिकामें बाह्यज्ञान-शून्यसे हो जानेके कारण सुचारुरूप-से कर्म नहीं होते या कोई संशयात्मा, अश्रद्धालु मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है अथवा कोई मूर्च्छा, तन्द्रा, हिस्टीरिया आदि आधि-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो कोई भी मनुष्य उन सब कर्मोंका अनुकरण नहीं करता, इससे लोकमें कोई हानि नहीं होती, किंतु भगवान् तो इन दोषोंसे सदा ही सर्वथा रहित हैं और संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही उनका प्राकट्य होता है, अतएव भगवान्-का यह कथन है कि मैं सावधान हुआ शास्त्रविहित कल्याणकारक कर्तव्य-कर्मका समीचीनरूपसे पालन न करूँ तो उस हालतमें मुझको भगवान् या श्रेष्ठ और आदर्श पुरुष माननेवाले मनुष्य कर्मोंको व्यर्थ समझकर त्याग देंगे, जिससे वे उन शास्त्रोक्त कल्याणमय कर्मोंके लाभसे वञ्चित रहकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे। भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(गीता ३।२४)

'इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के द्वारा यदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर दिया जाता है तो लोग कल्याणकारक कर्मोंको तो व्यर्थ समझकर त्याग बैठेंगे; किंतु कोई भी मनुष्य कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। ऐसी हालतमें वे राग-द्वेष और स्वार्थपरायण मनुष्य स्वभावके वशीभूत हुए स्वार्थसिद्धिके लिये अनाचार-अत्याचार आदि पापमय तामसी कर्म करते हुए व्यर्थ प्रमादमें ही लग जायँगे। वे मनमाना आचरण करके भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त हो जायँगे। ऐसा होनेपर वर्ण, आश्रम, जाति और समाजके विभिन्न धर्मोंमें संकरता यानी मिश्रण हो जाता है, मनुष्यत्वका नाश होकर लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और सभी लोग स्वार्थपरायण हो एक दूसरेका विनाश करनेमें तत्पर और महान् पापाचार करनेमें लग जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लोकविनाशक भयंकर महामारी, अनावृष्टि, जलप्रलय, अकाल, भूकम्प आदि होकर लोगोंका विनाश होने लगता है। ये सब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होनेपर ही होते हैं। अतएव भगवान् इस अव्यवस्थाको रोकनेके लिये ही अवतार लेते हैं और वास्तविक धर्मकी स्थापना करनेके लिये उत्तम-से-उत्तम आदर्श आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं।

ऊपर तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देनेके बाद भगवान् जिन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, उनको भी अनासक्त भावसे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(गीता ३।२५)

'अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

यहाँ ज्ञानीको अज्ञानीके कर्मोंका अनासक्तभावसे अनुकरण करनेकी बात कही गयी है। इसपर प्रश्न होता है कि वह अज्ञानी मनुष्य सात्त्विक है या राजसी या तामसी? इसका उत्तर यह है कि वह सात्त्विक तो इसलिये नहीं है कि सात्त्विक कर्तामें तो आसक्तिका अभाव होता है; किंतु यहाँ कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंका वर्णन है; अतः वह सात्त्विक नहीं। तथा आसुरी प्रकृतिके तामसी अज्ञानी मनुष्योंकी क्रिया नरकमें ले जानेवाली होती है, इसलिये उनका अनुकरण विधेय नहीं होनेसे यहाँ तामसी अज्ञानीकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ तो उस राजसी पुरुषका कथन है जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये कर्म और उनके फलमें आसक्त श्रद्धालु पुरुष है; क्योंकि कर्मोंके फलमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण वह जिस प्रकार सुचारुरूपसे शास्त्रविहित सकाम कर्मका अनुष्ठान करता है, दूसरा वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह समझता है कि शास्त्रीय विधिमें और श्रद्धामें कमी होनेपर फल नहीं मिलेगा। ऐसे राजसी अविवेकी मनुष्यके द्वारा विधिपूर्वक होनेवाली क्रियाका अनुकरण करनेके लिये ही ज्ञानीको प्रेरणा की गयी है। इनमें प्रधान अन्तर यह है कि अज्ञानी तो कर्म करता है कर्म और उसके फलमें आसक्त होकर; किंतु ज्ञानवान्की जो क्रिया होती है उसमें कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका अत्यन्त अभाव है, अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि ज्ञानी जो लोकसंग्रहके लिये अनासक्तभावसे कर्म करता है, उसके तो अनासक्त भावयुक्त शास्त्रोक्त कर्मका अनुकरण करे तथा इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छावाले सकामी विषयासक्त श्रद्धालु मनुष्यके केवल शास्त्रविहित कर्मका ही अनुकरण करे; किंतु सकामीके भीतर जो भोगों और कर्मोंमें आसक्ति, ममता तथा कामना है, उसका अनुकरण न करे, भाव यह है कि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे सकामी पुरुषकी क्रियाकी भाँति शास्त्रविहित वर्ण-आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

यहाँ ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहकी इच्छा औपचारिक है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जब कोई भी घटना होती है तो उसके लिये लोग कहते हैं—'भगवान्की जैसी इच्छा', किंतु वस्तुतः भगवान्में तो कोई इच्छा होती ही नहीं—यह तो केवल कथनमात्र है, इसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषमें भगवान्की भाँति इच्छा होती ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप करके कहा जाता है। जैसे कहा जाता है कि नदीका तट गिरना चाहता है, किंतु नदीके तटमें कोई इच्छा है ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप किया गया है। इसी तरह ज्ञानी महात्माके विषयमें समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानी महात्मा पुरुष कर्म न करे तो दूसरे सांसारिक विषयासक्त तथा साधक भ्रममें पड़कर कल्याणकारी शुभकर्मोंको भी व्यर्थ समझकर छोड़ सकते हैं और उनके लाभसे वञ्चित रह सकते हैं। इसलिये लोगोंको उन्मार्गसे बचाकर कल्याण-मार्गमें लगानेके उद्देश्यसे अनासक्तभावपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको स्वयं करने और दूसरोंसे करानेके लिये भगवान्ने प्रेरणा की है (गीता ३। २६)।

अतएव लोककल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्मोंको करनेसे परम लाभ है और न करनेसे महान् हानि है तथा जिनको न तो कुछ कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही है, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुष और साक्षात् भगवान्के द्वारा होनेवाले कर्म परम दिव्य और अलौकिक तथा पवित्र हैं। इस प्रकार उनका तत्त्व-रहस्य समझकर हमें उनको आदर्श मानकर श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक, उत्साह और तत्परताके साथ निष्कामभावसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

इस निबन्धमें ईश्वरके पाँच रूपोंके धारण करनेका रहस्य, उनका क्रमिक विवेचन और उनके सौलभ्यकी व्यवस्था यथामति लिखी जाती है। समस्त जीव ईश्वरके अंश हैं। अतएव प्रिय पुत्रवत् प्रिय हैं। ये अनादि अज्ञानवश ईश्वर-विमुख होनेसे शोकग्रस्त हैं, इन्हें शोक-रहित होनेके लिये कृपालु ईश्वरने अपने निःश्वासरूप वेदोंद्वारा आदेश दिया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः॥
(मुण्डक० ३। १। १-२)

'समान (एक) वृक्षपर सदा एक साथ रहनेवाले दो सखा पक्षी रहते हैं। इनमेंसे एक स्वादयुक्त फलोंको खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता रहता है। समान (एक) ही वृक्ष (छेदन योग्य शरीर)में निमग्न हुआ जीव (-रूपी एक पक्षी) दीन भावसे मोहको प्राप्त होकर शोक करता रहता है। जब योग-युक्त होकर ईश्वर (दूसरे पक्षी) को और उसकी महिमाको देखता (जानता) है, तब यह शोकरहित होता है।'

इन श्रुतियोंके अनुसार जीव अपने साथ रहनेवाले ईश्वरकी महिमा (विशेषकर कर्मफल-स्वाद-राहित्य) को जब जानता है, तब शोक-रहित होता है। जीव अपनी ही परिमित प्रकाशयुक्त बुद्धिके ज्ञानसे अपरिमित प्रभाव-युक्त ईश्वरको नहीं जान पाता; जब वह ईश्वर स्वयं अपनी कृपासे अपनेको जनाता है, तब यह उसे जान पाता है; यथा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥
(कठ० १। २। २३)

'यह परमात्मा वेद आदिके व्याख्यानोंसे प्राप्त होने-वाला नहीं है, धारण करनेवाली बुद्धिके द्वारा भी प्राप्त करने योग्य नहीं है और यह बहुत शास्त्र-श्रवणसे भी प्राप्त होने योग्य नहीं है। यह परमात्मा जिस जीवको अपना मानकर स्वयं वरण करता है, उसी जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य होता है, यह परमात्मा उस (अपने द्वारा स्वीकृत) जीवके लिये ही अपने स्वरूपको प्रकट करता है (अपने आनन्दात्मक स्वरूपका साक्षात्कार करा इसे ब्रह्मानन्दका परम सुख प्रदान करता है); तथा—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उरचंदन॥
(रामचरितमानस अयो० १२६)

जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ! पगनि परत॥
(विनय-पत्रिका २५१)

इन प्रमाणोंके अनुसार भगवान् स्वयं कृपा करके अपनी महिमाका ज्ञान कराते हैं, इसीलिये वे पञ्चधा स्थितिको स्वीकार करते हैं। यथा—

ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
(रामचरितमानस बाल० १२)

'जो चराचरमें व्याप्त है, जगत् ही जिसका शरीर

है, जो षडैश्वर्यपूर्ण होनेसे भगवान् कहा जाता है, उसीने देह धारण करके अनेक चरित किये हैं। वह (देह धारण करना और नाना चरित करना) केवल अपने भक्तोंके हितके लिये है; (क्योंकि) वह (ईश्वर) परम कृपालु और शरणागतोंका अनुरागी है।'

'व्यापक बिस्वरूप.....'—इस अर्द्धालीमें ईश्वरके क्रमशः पाँचों रूपोंके धारण करनेकी व्यवस्था है—'व्यापक' इस पदसे 'अन्तर्यामी' यह पहला रूप कहा गया है। 'बिस्वरूप' इस पदसे 'विराट्' (पर) यह दूसरा रूप कहा गया है। 'भगवाना'—इस विशेषणसे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः ऐश्वर्योंसे युक्त व्यूहरूप कहा गया है। व्यूहरूपमें ईश्वर ज्ञान और बल—इन दो ऐश्वर्योंसे 'संकर्षण' रूपसे संहार-कार्य करता है। ऐश्वर्य और वीर्य—इन दो ऐश्वर्योंसे 'प्रद्युम्न' रूप हो उत्पत्ति-कार्य करता है और शक्ति एवं तेज—इन दो ऐश्वर्योंसे 'अनिरुद्ध' रूप हो पालन कार्य करता है। इन्हीं तीनों रूपोंकी व्यूह संज्ञा होती है।

कहीं-कहीं चतुर्व्यूहसंज्ञा भी मिलती है। वहाँ मूल-रूपपर परमात्माको भी इन तीनों व्यूहरूपोंमें परिगणित समझना चाहिये। यह व्यूहरूप ईश्वरका तीसरा रूप है।

'तेहि धरि देह'—इस पदसे देह धारण करनेवाले मत्स्य-कूर्म आदि ईश्वरके 'विभव' रूपोंका अर्थ है, यह उसका चौथा स्वरूप है। 'चरित कृत नाना'—इस वाक्यमें उसी देहधारी विभवके अर्चा रूप होनेका भाव है; क्योंकि विभव (अवतार) रूपोंसे भगवान्ने जैसे-जैसे रूप धारण एवं चरित किये हैं, उनके ही आकार-प्रकारके पार्थिव पदार्थोंके आठ प्रकारके अर्चा-विग्रह होते हैं।

'सो केवल भगतन हित.....'—इस प्रकार भगवान् श्रीरामजीने क्रमशः अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चा—इन पाँच रूपोंको, केवल अपने भक्तोंके हितके लिये एवं उन्हें उत्तरोत्तर अधिक सुलभ होनेके लिये धारण किया है।

जैसे किसीका प्यारा पुत्र किसी कारणवश बंदी-गृहमें जा पड़ता है, तब उसके छुड़ानेके लिये वह पिता भी, उसी मार्गसे (स्वेच्छापूर्वक कृपा करके) जाता है और पुत्रको साथ लेकर लौटते समय व्यतिक्रमसे उन्हीं पड़ावों (विराम-स्थानों) पर होता हुआ आता है। वैसे ही ईश्वरका अंश जीव है, इससे यह उसे प्रिय पुत्रवत् प्यारा है। यह मायावश होकर उससे विमुख हो (कैदीकी भाँति) क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें आकर बद्ध दशामें देहरूपी बंदीगृहमें पड़ा हुआ सोचता रहता है। यह जो उपर्युक्त आकाश आदि पाँचों तत्त्वोंसे होता हुआ आया है, इससे प्राचीन संस्कारवश उन तत्त्वोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें निमग्न होकर दुःख भोगता रहता है।

इन पाँचों विषयोंसे इसे छुड़ानेके लिये इन्हीं पाँचों तत्त्वोंको स्वेच्छापूर्वक निर्लिप्त भावसे ग्रहण करते हुए ईश्वर भी अपने पाँच रूपोंको उसी क्रमसे धारण करता है कि जिससे जीव उसकी महिमाको जानता हुआ और उसके पाँचों रूपोंके लक्ष्यसे पाँचों विषयोंका अतिक्रमण करता हुआ, उस ईश्वरकी प्राप्तिकर पूर्ण सुखी हो जाय।

इन पाँचों रूपोंको धारण करते हुए भगवान् उत्तरोत्तर अधिक सुलभ होते जाते हैं। जीवोंका पाँचों तत्त्वोंमें होते हुए आना श्रुतियाँ कहती हैं; यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥

(तैत्ति० २।१)

'उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलोंसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय है।'

इस श्रुतिके अन्तिम वचनोंसे तत्त्वोंके साथ जीवके आनेका क्रम सिद्ध होता है। यही क्रम जीवोंके आनेका छान्दोग्योपनिषद् (५ । १० । ५-६) की श्रुतियोंमें भी स्पष्ट कहा गया है। वहाँ यह भी कहा गया है कि अन्नोंमें जीव बहुत काल रहकर कठिनाईसे निकल पाता है, मनुष्य-शरीर पाता है।

ईश्वर भी अपने अंशभूत जीवोंको उक्त बंदीगृहसे छुड़ानेके लिये पाँचों तत्त्वोंके लक्ष्योंसे पाँच प्रकारके रूपोंको धारण करता है। क्रमशः पाँचोंका परिचय दिया जाता है। उपर्युक्त 'ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। ....' इस अर्द्धालीकी ही व्याख्याके आधारपर लिखा जाता है—

(१) 'ब्यापक'—यह ब्रह्मका पहला रूप है, इसे अन्तर्यामी भी कहा जाता है। यह आकाशवत् सर्वगत माना जाता है; यथा—

यद्वाऽऽकाशं सनातनम्। (वाल्मीकि० ७ । ११० । १०)

अथवा सनातन आकाश (ब्रह्मरूप) में प्रवेश करें (रहें)। तथा—

स पर्यगाच्छुक्रमकायम्।

(यजु० अ० ४० मन्त्र ८, ईशा० ८)

इस श्रुतिमें भी 'परि-अगात्' इस पदसे ब्रह्म आकाशवत् कहा गया है। अतः अन्तर्यामीरूपकी स्थिति ब्रह्मका आकाश-तत्त्वमें आना है। आकाश तत्त्वका विषय शब्द है, किसी शब्दके सुननेपर उसके अर्थभूत विषयोंकी कामनाएँ होती हैं, जिनका विस्तार भी आकाशके समान बहुत है।

इस तत्त्वके संसर्गसे जीवमें कामनाओंका संचार होता है। भगवान् अपने निर्लिप्त अन्तर्यामी रूपका परिज्ञान करा, इसकी उन कामनाओंको निवृत्त कर और इसे आप्तकाम बनाकर इसकी शब्द विषयसे रक्षा करते हैं; यथा—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० २ । १५)

'उस देव (ब्रह्म) को जाननेपर मुमुक्षु सब बन्धनोंसे छूट जाता है।' तथा—

ज्ञाता देवं......केवल आप्तकामः।

(श्वेता० १ । ११)

'उस देव (ब्रह्म) को जानकर यह शुद्ध पूर्णानन्द एवं पूर्णकाम हो जाता है।'

(२) 'बिस्वरूप'—यह ब्रह्मका दूसरा रूप है। विश्व (जगत्) को अपने शरीररूपमें धारण करना ब्रह्मका वायु-तत्त्वमें आना है; क्योंकि इस रूपमें कर्म-परिणामरूप जगत्को वह अपने शरीररूपमें धारण करता है। कर्म प्राणवायुकी चेष्टाओंसे होते हैं और कर्मेन्द्रिय हस्त भी वायु-तत्त्वके साहाय्यमें निष्पन्न माना जाता है।

जगत्को अपने शरीररूपमें दिखाकर ईश्वर यह सूचित करता है कि अपने शरीररूप जगत्के द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्ता स्वयं मैं ही हूँ; क्योंकि शरीरके द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्त्ता शरीरी ही कहा जाता है।

यद्यपि कर्मोंकी इच्छा कर संकल्प करनेसे जीव कर्ता कहा जाता है, परंतु कर्मोपकरणरूप शरीर, इन्द्रियाँ और प्राणोंके द्वारा पौरुष प्रदान कर कर्म करानेवाला जगत्-शरीरी ब्रह्म ही है। अतः जीवको कर्तृत्वाभिमान नहीं करना चाहिये (गीता १८ । १४—१६ देखिये)।

इस विराट्रूपका ज्ञान होनेसे जीवकी कर्मोंके कर्तृत्वाभिमानसे रक्षा होती है। यही वायु-तत्त्वके द्वारा होनेवाले कर्म-बन्धनसे संरक्षण है।

(३) 'भगवाना'—इस पदसे ऊपर व्यूहरूप लिखा गया है। इस तीसरे व्यूहरूपका धारण करना ईश्वरका अग्नि-तत्त्वमें आना है; क्योंकि व्यूह देवरूप हैं और देवोंके शरीर अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन ही तत्त्वोंके होते हैं, उनमें तेजोमय अग्नि प्रधान रहती है। यथा—

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम्॥
(महा० वन० ५७। २४)

दमयन्तीने देवताओंको पसीनेसे रहित, पलक-चालनसे रहित, न मुर्झानेवाली मालावाले, रजोहीन एवं छायारहित और पृथिवीको न स्पर्श करनेवाले देखा।

इसमें पसीनेसे रहित होनेमें जल-तत्त्वरहित और रजोहीन होनेमें पृथिवी-तत्त्वरहित कहा गया है।

व्यूहके तीन रूपोंमें संकर्षणका 'ज्ञान'मय स्वरूप होता है और 'बल'से वे मोहका संहार करते हैं। बलसे यहाँ वैराग्यका तात्पर्य है; यथा—

'जब उर बल बिराग अधिकाई॥' (रामचरित० उत्तर० १२१)

वैराग्यसे देहासक्तिरूप मोहका नाश होता है। प्रद्युम्नका 'ऐश्वर्य'मय स्वरूप होता है और 'वीर्य'से मुमुक्षुकी बुद्धिरूपी भूमिमें दिव्य गुणोंकी उत्पत्ति करते हैं। अनिरुद्धका 'तेजः'मय स्वरूप होता है और 'शक्ति'के द्वारा मुमुक्षुमें भक्ति प्रदानकर उसका पालन करते हैं। यहाँ साधन-क्रमके अनुसार व्यूहके कार्य कहे गये हैं। अग्नि-तत्त्वके रूप विषयसे मोह होनेपर बुद्धिनाश होता है और देह-पोषणकी विषय-स्पृहाओंसे भक्तिका नाश होता है। उपर्युक्त रीतिसे व्यूहके कार्योंसे ये तीनों दोष निवृत्त होनेमें जीवका अग्निके रूप विषयसे संरक्षण होता है।

(४) 'तेहि धरि देह'—इस वाक्यसे ऊपर 'विभव' रूपका अर्थ लिखा गया है, यह ईश्वरका चौथा रूप है। इसका धारण करना ईश्वरका जल-तत्त्वमें आना है; क्योंकि इसमें भगवान् रजवीर्यसे होनेवाले शरीरधारियोंके समान बाल-युवा आदि अवस्थाओंको अपने दिव्य शरीरमें धारण करते हैं। इस रूपसे असुरोंका संहार और धर्म-संस्थापनके द्वारा साधुओंका परित्राण करते हैं।

जीवोंमें रसनाके द्वारा षट्रस पदार्थोंके सेवनसे इन्द्रियोंके द्वारा आसुरीसम्पदा (काम-क्रोध आदि) बढ़ती है। उसी रसनाके जिह्वारूपसे विभवचरित गान करनेसे आसुरीसम्पदाका नाश होकर धार्मिक वृत्ति बढ़ती है। इस प्रकार जीवरूपी साधुकी जल-तत्त्वके रस विषय-विकारसे रक्षा होती है।

(५) 'चरित कृत नाना'—इस पदसे ऊपर अर्चारूप कहा गया है। अर्चारूपका पाषाण, स्वर्ण एवं रजत आदिके विग्रहोंमें आना ईश्वरका पृथिवी-तत्त्वमें आना है। अर्चा रूपका सेवक अपनी देह और तत्सम्बन्धी वस्तुएँ इन्हीं अर्चारूप भगवान्‌को अर्पण कर देता है और इनकी सेवा करता हुआ आयु समाप्त कर देता है; इससे यह पार्थिव देह-सम्बन्धी तीनों (देव, ऋषि और पितृ) ऋणोंसे मुक्त हो जाता है; यथा—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

'हे राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्ण रूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें प्राप्त होता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी सेवक और ऋणी नहीं रहता।' तथा—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

'जैसे जड़के सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्ग तृप्त होते हैं

और प्राणोंके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, वैसे ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है।' क्योंकि भगवान् सबकी आत्मा हैं, उन्हें आत्मसमर्पण करके तृप्त करनेपर सबकी तृप्ति हो जाती है। यह श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है।

यहीं इस रूपमें ईश्वरका पृथिवी-तत्त्वमें और अपने सेवक जीवकी पृथिवी-तत्त्व-सम्बन्धी ऋणत्रयरूपी बन्धनोंसे रक्षा करना है।

'सो केवल भगतन हित लागी।'.....................॥'

भगवान् अपने अंशभूत अतएव प्रिय पुत्रवत् मुमुक्षु जीवोंपर कृपा करके ही इन पाँच रूपोंको धारणकर इन्हें पाँचों विषयोंसे पूर्ण भवजालसे बचानेका उपाय करते हैं। अर्चारूपमें आकर तो आप सबके लिये सुलभ हो जाते हैं।

मुमुक्षु जीव प्रतिलोम (उल्टी) रीतिसे (अर्थात् प्रथम पाँचवें अर्चारूपसे प्रारम्भ कर) इन पाँचों रूपोंकी उपासना करता हुआ उत्तरोत्तर प्रशस्त अवस्थाओंका लाभ करता है। इस प्रकार यह उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। यह पहले अर्चारूपकी आराधना करता है। इसीकी सेवाके साथ-साथ चरित्रोंद्वारा उनके विभवरूपोंका भी अनुभव करता हुआ उन्हीं ग्रन्थोंके द्वारा व्यूह एवं पररूपका ज्ञान करता है। अन्तमें पररूपकी ही आराधनासे यह अन्तर्यामीका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। अन्तर्यामी भगवान्‌के साक्षात्कार करनेके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे, जिन्होंने अपने चरितसे 'तोमें मोमें खड्ग-खंभमें' इस भगवान्‌की स्थितिका सबको परिज्ञान कराया है। यथा—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

'भक्तवत्सल श्रीहरि अपने भक्त प्रह्लादजीके वचनका एवं अपनी सर्वव्यापकताका सत्य विधान करते हुए सभाके मध्य उसी खम्भेमें अपूर्व रूपसे प्रकट हो गये। उनका वह रूप न तो मृगका था और न मनुष्यका ही; अर्थात् आधा मनुष्य और आधा सिंहका रूप था, तथा—

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥
(श्रीमद्भा० ७।१०।२१)

नृसिंह भगवान्‌ने श्रीप्रह्लादजीसे कहा है कि जगत्‌में जो तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे मेरे भक्त हो जायँगे, निश्चय ही तुम मेरे सभी भक्तोंमें आदर्श हो। तथा—

'बेद बिदित प्रह्लाद-कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै।'
(विनय-पत्रिका १३७)

भगवान् अपने पाँचों रूपोंमें षडैश्वर्यपूर्ण ही रहते हैं, मुमुक्षुके भावानुसार एवं स्वरूपानुसार गुण प्रकट करते हैं। श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(ईशा० १)

'वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है और पूर्णका पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है।'

इस पञ्चधा स्थितिकी आराधना नारद-पञ्चरात्र एवं रहस्य-ग्रन्थोंमें है। नारद-पञ्चरात्रके कुछ श्लोक आगे लिखे जाते हैं—

स एव करुणासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥
तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥
पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥

'वे करुणासागर भक्तवत्सल भगवान् उपासकोंके लिये अपने पाँच रूपोंको धारण करते हैं। वे अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म (पर) और अन्तर्यामी संज्ञासे कहे

जाते हैं। इनमें जीववर्ग जिस रूपका आश्रय करता है, उस-उसके ज्ञानका साक्षात्कार करता है। वह पूर्व-पूर्वकी उपासना करता हुआ पापरहित होते हुए उत्तरोत्तर रूपों-की उपासनाका अधिकारी होता है।'

यहाँ इन पाँचों रूपोंकी उपासनाका साधारण क्रम कहा गया है। अनन्य शरणागतके लिये भगवान्‌की विशेष कृपासे उनके किसी रूपसे शीघ्र ही कल्याण हो सकता है।

यहाँके पाञ्चरात्रके प्रमाणमें इस पञ्चधा स्थितिका आराधन-क्रम कहा गया है और ऊपरके श्रीगोस्वामीजीके प्रमाणमें ईश्वरके रूप धारण करनेका क्रमशः वर्णन किया गया है। शेष करुणासिन्धु एवं भक्तवत्सल आदि विशेषणोंके भाव दोनोंमें समान ही हैं।

भगवान्‌की इस करुणा एवं भक्तवत्सलतासे अपने हितार्थ इन पाँचों रूपोंकी परिस्थिति समझकर उनके परम सुलभ अर्चारूपपर आत्मा और आत्मीय वस्तुओंका अर्पण कर और प्रपत्ति-निष्ठासे आराधना कर अपना मानव-जीवन सफल बनाना चाहिये।

श्रीविभीषणजीने श्रीरामरूपसे और श्रीद्रौपदीजीने श्रीकृष्णरूपसे—इन विभवरूपोंसे शरण होकर लाभ उठाये हैं। उसी प्रकार इनके अर्चारूपोंसे वही लाभ होता है, इसे आचार्योंने यों समझाया है कि जैसे बरसाती नदियोंके जलोंसे उनके समीपी लोग लाभ उठाते रहते हैं। वर्षाके पश्चात् प्रवाह न रहनेपर भी उन नदियोंके बीच-बीचके गहरे कुण्डोंमें भरे हुए जलोंसे उनके समीपी पीछे भी उसी जलका लाभ उठाते हैं। वैसे ही अवतार-कालमें भगवान्‌के चरित-प्रवाहसे आश्रितोंने जैसे-जैसे लाभ उठाये हैं वैसे-वैसे लाभ उनके उन्हीं चरितोंके आकारमें निष्पन्न अर्चारूपोंसे भी शरणागत लोग पाते हैं। इसीसे शरणागति अर्चारूपोंके समक्ष होती है, ऐसा आचार्योंका निश्चित सिद्धान्त है; क्योंकि ये ही सबको सुलभ हैं।

सारा बाग नजर आता है

मैंने तो सोचा था तेरी छाया तकसे दूर रहूँगा।
चला मगर तो जाना हर पथ तेरे ही घरको जाता है॥

इतने बदले पंथ कि जीवन
ही बन गया एक चौरस्ता,
सूखा पर न कहीं जो भेंटा
तूने सुधियोंका गुलदस्ता,
कोई सुमन न पाया जिसमें
बसी न तेरी गंध-श्वास हो,
कोई आँसू मिला न जिसको
तेरे अंचलकी तलाश हो,
जाने यह कौन-सा दर्द है, जाने यह कौन-सा कर्ज है?
जिसे चुकाने हर सौदागर कपड़े बदल बदल आता है।
चाहे हो वह किसी रंककी चाहे हो वह किसी रावकी
हर कहार हर एक पालकी तेरे ही घर पहुँचाता है।

तुमसे छुपनेकी कोशिशमें
ओढ़ गुनाह लिया हर कोई,
याद न आती रात मगर जब
आँख न छिप छिप कर हो रोई,
जबतक तेरा दर्द नहीं था
तन था धूल उमर थी क्वारी,
खुशियाँ तो हैं दूर, न दुख
तकसे है कोई रिश्तेदारी,
कैसे तुझसे रिश्ता टूटे, कैसे तुझसे नाता टूटे?
मरघटके रस्तेमें भी तो तेरा पनघट लहराता है।
लेकिन तेरा प्यार हृदयको जगा गया, उस दिनसे मुझको
छोटी-से-छोटी पत्तीमें सारा बाग नजर आता है।

—नीरज

क्या श्रीमान्की स्त्री कभी भीख माँगती है ?

(लेखक—प्राध्यापक श्रीधर्मवीरजी एम्० ए०)

'मेरे भक्त और संसारकी चिन्ता !' श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी श्रीमद्भगवद्गीतापर भावार्थदीपिका-टीका, ज्ञानेश्वरीका अमृत-रस-पान करते हुए ये शब्द पढ़े तो आँखें खुली-की-खुली रह गयीं, परंतु दीखना बंद हो गया। आत्मविभोर हो जानेसे कुछ ही देरमें शरीरका भाव भी जाता रहा।

ये शब्द कहनेके पश्चात् योगी मौन हो गये। वे समाधिमें चले गये हैं—ऐसा अनुभव हुआ। मैंने अपने-आपको वहाँसे हटा लिया। कुटिया छोड़कर घर लौट आया।

फिर एक बार दर्शनके लिये गया तो कृपापूर्वक कहने लगे—'क्षमा कीजियेगा। उस रोज आपको कुछ विचित्र-सा लगा होगा। परंतु यह शरीर ऐसा ही है।'

मेरी आँखोंमें आँसू देखकर वे बोले—'यह क्या ? नहीं-नहीं, मैंने आपको अपात्र तो नहीं समझा था। अच्छा, लीजिये, उसी दिनका प्रसंग आज कहता हूँ।

बारहवें अध्यायकी चौरासिवीं ओवीमें श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं—'क्या श्रीमान्की स्त्री कभी भीख माँगती है ?' इससे आगे इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है, 'मेरे भक्तोंको मेरा कुटुम्बी ही जानो।' उनके लिये मैं किसी बातकी लज्जा नहीं रखता।' इससे पूर्व उन्होंने कहा है—'जो कर्मोंको मुझे समर्पित कर उनका नाश करते हैं तथा जिनके कायिक, वाचिक और मानसिक भावोंकी दौड़ मेरे अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं है, इस प्रकार जो मत्पर हैं और निरन्तर मेरी उपासना कर ध्यानके मिससे मेरे ही घर बन गये हैं; जिनके प्रेमने मुझसे ही व्यापार कर बेचारे भोग-मोक्षरूपी असामियोंको छोड़ दिया है, इस प्रकार जो अनन्य योगसे, अन्तःकरणसे, मनसे और शरीरसे मेरे हाथ बिक गये हैं, उनका जो कहो सो सब कुछ मैं ही कर देता हूँ।'

'इनसे भी बढ़कर स्पष्टता इन शब्दोंमें पायी जाती है—'जो सम्पूर्ण मनोभावोंसे मुझे चित्त अर्पण करते हैं, जैसे गर्भका गोला कोई भी व्यापार नहीं जानता, वैसे ही जिन्हें मेरे बिना और कुछ भला नहीं दिखायी देता और जिन्होंने अपने जीवनको मद्रूप ही कर लिया है, ऐसे जो एकनिष्ठ चित्तसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति करते हैं उनकी मैं भी सेवा करता हूँ।'

'यहाँपर 'सेवा' कहा है। परंतु एक छोटी-सी शर्त भी है, 'वे जिस समय एकाग्र चित्तसे मेरे भजनमें लगते हैं उसी समय मुझे भी उनकी चिन्ता उत्पन्न होती है।' तब उनके जो-जो कार्य हों वे सब मुझे ही करने पड़ते हैं। जैसे पक्षिणी पंख न फूटे हुए बच्चोंके जीवनके लिये ही अपना जीवन रखती है, अपनी भूख-प्यास नहीं जानती और उस चिरौंटेका हित ही उस माताका कार्य रहता है, वैसे ही जो गणोंसहित मेरा अनुसरण करते हैं उनका सब कुछ कार्य मैं ही करता हूँ। उन्हें मेरे सायुज्यकी इच्छा हो तो प्रेम सम्मुख रख देता हूँ। इस प्रकार मनमें जो-जो भाव रखते हैं उन्हें मैं बारंबार पूर्ण करता हूँ। उन्हें दी हुई वस्तुकी रक्षा भी मैं ही करता हूँ।... जिनके सब भावोंका मैं आश्रय हूँ उनका योगक्षेम मुझे ही करना पड़ता है।' (२२-९)

'इसके बदले भगवान् क्या चाहते हैं ? 'हे किरीटी ! तुमने अपनी आँखों देखा है कि मैंने तंदुलोंके लिये सुदामाके वस्त्रकी गाँठें खोली हैं। मैं एक भक्ति ही मानता हूँ, उसमें मैं छोटा-बड़ा नहीं देखता। कोई भी हो हम केवल भावके पाहुने हैं। पत्र-पुष्प-फल, ये बातें केवल भजनके बहाने हैं। अन्यथा हमें निष्कलंक भक्तिरूपी तत्त्व ही चाहिये।' (२६-९) 'कुल, जाति और वर्ण, सब वृथा हैं'' क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री अथवा शूद्र-अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभीतक भिन्न हैं जबतक मुझे नहीं प्राप्त होतीं। जब वे प्रेमसे मुझमें मिल जाती हैं, तब जाति और व्यक्तिका कुछ भी निशान नहीं बच रहता, मानो केवल लवणके कण समुद्रमें मिला दिये गये हों।' (३२। ९)

'भगवान्के स्वरूपको मानव (बल्कि पशु भी) कब पहुँचता है ! 'तुम अपना मन मद्रूप कर दो, मेरे भजनमें प्रेम रक्खो, सर्वत्र मुझ एकको ही नमस्कार करो। जो मेरी ही ओर ध्यान कर निःशेष संकल्पको जला देता है उसको मेरा निर्मल भजन करनेवाला कहते हैं। इस प्रकार मुझसे सम्पन्न होओगे तो मेरे स्वरूपको पहुँचोगे, यह अपने अन्तःकरणकी बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। हमने जो अपना गुह्य सबसे छिपा रक्खा है उसे प्राप्त कर सुखस्वरूप हो रहो।' इस प्रकार उस साँवले परब्रह्मने कहा।

'यह भक्ति कैसी हो ? 'यह भक्ति ऐसी हो जैसी वर्षाकी धारा, जो पृथ्वीके अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं जानती। अथवा सभी जलसम्पदा लेकर जैसे गङ्गा समुद्रकी खोज करती है और अनन्यगति हो बारंबार उसीसे मिलती है।' (५४–११)

'इसके फलके विषयमें कोई संदेह नहीं रहता—'मुझसे लेकर चिउँटीतक किंबहुना चराचरमें—भजनके लिये दूसरी वस्तु ही नहीं है। जो ऐसी भक्ति प्राप्त हो तो उसी क्षण मेरे इस रूपका ज्ञान होता और सहज दर्शन भी हो जाता है।' (५४–११)

इससे भी अधिक स्पष्ट थोड़ा आगे चलकर कहा गया है—'जिसकी काया, वाचा और मनका ऐसा निश्चय हो गया है कि संसारमें मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भला नहीं है। जिसके शरीर, वाणी और मन, ऐसा निश्चय करनेकी शपथ खाकर मेरे सिवा दूसरी ओर नहीं देखते, किंबहुना जिसका अन्तःकरण मेरे समीप आ पहुँचा है, उसने अपने और हमारे लिये मानो एकत्वकी शय्या तैयार की है। वल्लभके सम्मुख जानेपर कान्ता जैसे शरीर तथा अन्तःकरणको नहीं छिपाती उसी प्रकार जो मुझे भजता है…उसीको मूर्तिमान् ज्ञान समझो।'

'अब भक्त अपनी मनःस्थितिका निवेदन करता है—'पद्मिनीको रविकिरणोंका लाभ होते ही वह लज्जाका अङ्गीकरण न करके प्रफुल्लित होती है, अथवा जलका स्पर्श होते ही जैसे लवण अपने शरीरकी सुधि भूल जाता है, वैसे ही जब मैं आपका स्मरण करता हूँ, तब अपनापन भूल जाता हूँ।' (अध्याय अठारह ओवी पंद्रह-सोलह)

'क्या मनुष्य परमात्माका उपभोग कर सकता है ? हाँ ! 'जब त्वं-पद-सहित तत्पद भी बिलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतोंको लीलकर स्वयं शेष रहता है, वैसे ही साध्य और साधनके परे शुद्ध स्वरूप जो मैं हूँ, उस मुझसे एकरूप हो मनुष्य मेरा उपभोग लेता है।…तरुणाङ्गना जैसे तारुण्यका भोग लेती है वैसे वह कर्मयोगी मद्रूप हो मेरा उपभोग लेता है।…वह मत्स्वरूप होकर कोई क्रिया किये बिना ही मेरा भजन करता है।…वह जो कुछ बोलता है मेरी भेंट होते ही वह मौन हो जाता है। उसी मौन-भावसे वह मेरी स्तुति करता है।'

महर्षि रमण इसी आत्मसाक्षात्कारके कारण मौन रहा करते और कहते—'**मौनं ईश्वरस्वरूपम्।**' श्रीज्ञानेश्वर महाराज इस विषयमें चुप नहीं हैं—'सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जानेके कारण जो अकर्तृत्वकी घटना होती है उसीका नाम मेरी सांकेतिक पूजा है। अतः…वह जो बोले सो मेरा स्तवन है, जो देखे सो मेरा दर्शन है और जो चले सो मुझ अद्वितीयकी यात्रा है।…कंकण जैसे सोनेसे अनन्य ही रहता है, वैसे ही वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें अनन्य हो रहता है। जलमें तरङ्ग, कपूरमें सुगन्ध अथवा रत्नमें प्रकाश जैसे अनन्य है…।' (५५–१८)

'आनन्द, पूर्ण-आनन्द, आत्मानन्द—कैसे प्राप्त हो? अपना अहंकार, काया, वाचा और मन उसे अर्पणकर…उसकी शरणमें जाओ। उसके प्रसादसे तुम सब विषयोंकी उपशान्तिरूपी स्त्रीके पति हो आत्मानन्दसे निजरूपमें ही रममाण होओगे। उत्पत्ति जहाँसे उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती है, अनुभूति जिस अनुभवका अनुभव लेती है,…उस अक्षय-स्वात्मपदके तुम राजा बन जाओगे।' (६२–१८) 'ऐसी चेष्टा करो कि हाथोंका कर्म करना या पाँवोंका चलना भी मेरे हेतु हो। अपना हो या पराया उसपर उपकाररूपी यज्ञ कर मेरे उत्तम याज्ञिक बनो।…अपनी ओर केवल सेवकाई रख अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो तथा भूतद्वेष छोड़कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करनेसे तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रयका लाभ होगा और इस भरे हुए संसारमें तीसरेकी वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्दकी वृद्धि होगी।…जब प्रतिबन्ध करनेवाली तीसरी वस्तुका नाश हो जायगा, तब तुम मद्रूप हो जानेके कारण अन्तमें मुझे ही प्राप्त कर लोगे।'…(६५–१८)

अब तो कोई कसर नहीं रहने दी गयी। तो भी अन्तमें परम तत्त्वको दोहरा दिया है—'प्रथम सब कर्मोंको मुझे समर्पित कर सर्वतः मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिये। अनन्तर मेरे प्रसादसे मेरा ज्ञान सिद्ध होता है और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूपकी सायुज्यता प्राप्त हो सकती है। फिर उस समय साध्य और साधन नहीं रहते,…कुछ भी शेष नहीं रहता।' (६५–१८)

अब मैंने अपने आपको नतमस्तक पाया।

योग या भोग?

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आज एक ओर तो देशमें अनेक प्रकारकी विभीषिकाएँ सामने हैं, दूसरी ओर देशमें अनुचित नेतृत्वकी सर्वत्र वृद्धि होती जा रही है। विचारनेपर आप्त ऋषियोंका मार्ग ही सच्चा तथा निर्भ्रान्त प्रतीत होता है। रामायण, भागवत आदिमें उसका ही सार है। पर भारतके मूर्धन्य कहे जानेवाले नेतागण आज उसकी तनिक भी परवा नहीं करते। अब देखना है कि ६२ की जनवरीमें क्या होता है? देशके कोने-कोनेसे उसकी शान्तिके लिये जप-तप होनेके समाचार आ रहे हैं। यह संतोषकी बात है। तथापि अनुचित नेतृत्व चिन्ताका कारण है ही। अधिक चिन्ता तो तब होती है, जब पवित्र साधुवेष-धारी लोग भी नेतृत्वके लोभमें पड़कर जनताको रिझानेकी दृष्टिसे उसे पसंद आनेवाली गलत बात तथा नाचगान आदिका अनुचित आश्रय लेकर स्वयं ही भ्रान्त होने लगते हैं। गोस्वामीजीने ऐसे ही अवसरके लिये सावधान करते हुए लिखा है—

सचिव बैद गुरु तीन जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥

एक दिन एक प्रसिद्ध धार्मिक वक्ता मंचपर ही समाज-वादी भाषामें कहने लगे—'भारतवासियो! यदि तुम्हारे जप-तपमें कुछ भी होता तो तुम क्या इतने दरिद्र और दुखी रहते? तुम्हारे मन्दिरोंमें परमात्मा होता तो वह क्या तुमपर कुछ भी दया न करता? उसकी कृपा इंग्लैण्ड, रूस, अमेरिका आदिपर क्यों बरसती, जहाँ यह धर्म-कर्म-पाठ-पूजा आदिका कोई दंभ नहीं होता। वस्तुतः वहाँके लोग ही सच्चे धार्मिक हैं, हम किसी प्रकार नहीं आदि।' भ्रान्त जनताको बहुत पसंद आया यह भाषण। यह देशकी विचित्र स्थिति है। उन्होंने यहाँतक कह डाला कि 'राम-नामसे अबतक किसका क्लेश मिटा, कोई बतलावे तो? मैं इस भावुकतामें बीसों वर्ष भटकता रहा, पर अबतक कोई भी प्रकाश न मिला। यह सब व्यर्थ है, सच्चे धर्मको पहचानो।'

किसी समाजवादी या साम्यवादी नेताका यह भाषण होता तो ठीक ही था, किंतु धार्मिक नेताका यह व्याख्यानसांकर्य तो देशका दुर्भाग्य ही कहा जायगा, भागवत-विष्णुपुराण आदिमें देवताओंका भारतमें न जन्मनेके लिये पश्चात्ताप प्रसिद्ध है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

इत्यादि। प्रश्न होता है कि देवता क्या अमेरिका आदिके वैभवसे हीनवैभव हैं। फिर वे भारतमें जन्म पानेके लिये क्यों तरसते हैं? भागवत स्पष्ट कहता है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

(५। १९। २४)

अर्थात् जहाँ प्रभुकी ललित लीलामयी कथासुधाकी पवित्र गङ्गाधारा न प्रवाहित होती हो, शुद्ध हृदयके भक्त संत जहाँ न हों, वह अमेरिका तो क्या देवलोक ही क्यों न हो, वहाँ मत बसो। और केवल उपकार, दया, माया भी साधुता नहीं है, जिसे आप भावुकतामें न भटककर सच्चे प्रकाशकी खोजमें देख रहे हैं। तुलसी-सा भक्त तो यही कहता है कि—

साधुसमाज न जाकर लेखा। रामभगति महँ जासु न रेखा॥

फिर राम-विमुखकी सम्पत्तिकी प्रशंसा कोई भी सात्त्विक बुद्धि स्वीकार नहीं करेगी। हनुमान्‌जीके शब्दोंमें तुलसीका यह कथन ही सात्त्विक है—

रामबिमुख संपति प्रभुताई। गई रही पाई बिनु पाई॥

और सुमित्रा तो 'रामबिमुख सुतते हित हानी' कहकर ऐसे व्यर्थके अर्थका भीषण परिणाम भी घोषित कर रही है। मनुजी भी स्पष्ट कहते हैं कि पापियोंके धनको देखकर तुम पाप मत करो। थोड़ी प्रतीक्षा करो, उनका भविष्य देखो। अवश्य ही उनका परिणाम भयंकर होगा और वह शीघ्र ही होगा—

अधार्मिकाणां पापानां शीघ्रं पश्यन् विपर्ययम्।

(मनु० ४। १७१)

जब रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, दुर्योधनका परिणाम भला

न हुआ तो अब किसी आसुरी सम्पत्तिकी शुभाशा तो दुराशामात्र ही है।

अबतककी परम्परा देखनेसे यह भी स्पष्ट है कि यह संसार भी धनियोंकी पूजा न कर त्यागी, परोपकारी हरिभक्तोंकी ही प्रतिष्ठा करता आया है। धनकुबेर तथा भोगसुखसम्पन्न रावणादि तो निन्द्य ही रहे। यदि केवल भोगी ही वन्द्य होता तो नारद, व्यास, शंकराचार्य, तुलसीदास, ईसा, गान्धी आदिकी कोई कभी प्रतिष्ठा क्यों करता? उन वक्ता महोदयको भी विचार करना चाहिये कि सभाओंमें क्या उनके-जैसे भोग या धनसम्पन्न व्यक्ति नहीं रहते। फिर उनकी वक्तृता जनता क्यों सुनती है? जनता तथा श्रोताओंमें उनसे अधिक विद्वान् भी होते हैं, किंतु यह केवल उनके त्यागमय वेषका प्रभाव है कि सभी उनके भाषण श्रद्धासे सुनते हैं; क्योंकि इस वेषसे त्याग, वैराग्य, सत्यता, भक्ति, योग, सदाचारकी कल्पना होती है। यहाँ धनका प्रभाव तो बाधक ही होता है, साधक नहीं।

इस सम्बन्धमें महाभारत शान्तिपर्वके २७१वें अध्यायमें कुण्डधार मेघकी एक बड़ी सुन्दर कथा है। उसमें कहा गया है कि एक निर्धन ब्राह्मणने धनकी कामनासे चन्दन, पुष्प, धूप, दीप एवं तरह-तरहके नैवेद्योंद्वारा कुण्डधार मेघकी आराधना की। फिर वह थककर वहीं कुशासनपर ही सो गया। स्वप्नमें उसने देखा कि मणिभद्र यक्ष लोगोंको विविध पदार्थ दे रहे हैं। इतनेमें ही उस ब्राह्मणका आराध्य कुण्डधार मेघ भी मणिभद्रके सामने आकर लेट गया। मणिभद्रने उससे पूछा कि 'भाई! तुम क्या चाहते हो?' कुण्डधार बोला कि 'इस ब्राह्मणपर ऐसी कृपा करो कि यह सुखी हो जाय।' इसपर मणिभद्र बोला कि 'तुम जितना धन कहो, इसे तत्काल दे दूँ।' कुण्डधारने कहा—'नहीं, मानवदेह चञ्चल तथा नश्वर है, धनसे क्या होगा? इस ब्राह्मणकी बुद्धि तपमें लगा दो। मैं अपने भक्तको रत्नोंसे भरी पृथ्वी या कोई विशाल धनराशि नहीं देना चाहता, मेरी तो यही इच्छा है कि यह धार्मिक हो जाय।'

मणिभद्रने वैसा ही किया। अब वह ब्राह्मण वनमें रहकर तप करने लगा। फिर तो, उसे वह शक्ति मिल गयी कि वह यदि किसीको राजा होनेको कह देता तो वह तुरंत राजा हो जाता। इसी बीच एक दिन कुण्डधार भी उसके सामने प्रकट हो गया और कहने लगा कि 'विप्रवर! देखो, अब तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है। अब तुम इसके द्वारा धनियों तथा राजाओंकी होनेवाली दुर्गतिको भी देख लो। पता नहीं, मनुष्य भोगोंकी लालसा क्यों रखता है? इनसे नरक तो मिलता ही है, भोगकालमें भी बेचैनी तथा भोगाभावमें भीषण संताप ही प्राप्त होता है।' ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, निद्रा, आलस्यादि घेरे हुए हैं। इससे ब्राह्मणको मेघकी करनीपर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे तपःसिद्धि मिल गयी। उसे आकाशमार्गसे अविच्छिन्न घूमने तथा संकल्पमात्रसे संसारमें उलट-फेर करनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी थी। सच्ची बात तो यह है कि देवता, ब्राह्मण, यक्ष एवं सत्पुरुष धर्मात्माओं तथा त्यागी तपस्वियोंकी ही पूजा करते हैं। किसीके धनी, कामी या सुन्दर होनेके कारण उसकी पूजा नहीं करते।

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः।
धार्मिकान्पूजयन्तीह न धनाढ्यान्न कामिनः॥

(शान्ति० २७१। ५५)

शान्त तथा सात्त्विक मतिसे विचारनेपर यही प्रतीत होता है कि सच्चा सुख योगमें ही है, भोगमें नहीं। सर्वशास्त्रमयी गीताका भी यही कथन है कि—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।'
'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'
'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥'

सारे योगवासिष्ठ तथा महाभारत मोक्षधर्ममें बार-बार इसीका अभ्यास तथा प्रतिपादन हुआ है। वस्तुतः नारायणस्मृति ही विशुद्ध सम्पत्ति है। **'सम्पन्नारायणस्मृतिः।'**

धनके सम्बन्धमें भगवान्‌का निर्णय

श्रीमद्भागवत (८। २२। २—२७, १०। ६०। १४, १०। २७। १६ तथा १०। ८८। ८—११) में भगवान्‌का निरन्तर कथन है कि मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका धनापहरण कर लेता हूँ—

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २७। १६)

जिन योगियोंका मन तनिक भी भोगैषणासे दूषित है उनको मेरा दर्शन दुर्लभ ही है।

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।

(श्रीमद्भा० १। ६। २२

ऋषि-मनीषियोंका मत

विचारकश्रेष्ठ नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं कि धनकी चर्चा भी न सुने, उससे बुद्धि भ्रष्ट होती है।

'स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।'(ना० भ० सू० ६३)

वे ही भागवतमें कहते हैं कि 'साधुको धन तथा धनियोंसे क्या प्रयोजन ? वे तो दीनबन्धु भगवान्‌के समान दरिद्रोंके ही अतिथि होते—मित्र बनते हैं।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
(श्रीमद्भा० १०। १०। १८, १७)

शुकदेवजी भगवान्‌को बार-बार 'अकिंचनवित्त' (निर्धनके धन) कहते हैं। भिक्षुगीतमें आवन्त्य कहता है कि 'अर्थ' नामक पदार्थ तो वस्तुतः सभी अनर्थोंकी ही जड़ है। इससे नरक तो होता ही है, इसका स्वल्प लोभ भी यशस्वियोंके यशको उसी प्रकार चौपट कर डालता है जैसे सुन्दर रूपको थोड़ा-सा भी कोढ़। धन कमाने, बचाने तथा व्यय करनेमें भीषण आयास एवं त्रास होता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, वैर, अविश्वास, ईर्ष्या, जुआ, शराब और व्यभिचार—इन १५ अनर्थोंकी जड़ यह अर्थ ही तो है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २३। १९-२०)

महर्षि दुर्वासा धनको समस्त विपत्तियोंकी जड़ बतलाते हैं—

ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नाज्ञानकारणम्।
मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्याद्धरिभक्तिव्यपायकम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० ३६। ४८)

वृषादर्भिके रत्नदानका लोभ दिखानेपर महर्षि अत्रिने कहा था कि धर्मके लिये भी धनका संचय ठीक नहीं; क्योंकि कीचड़में हाथ सानकर धोनेकी अपेक्षा तो हाथ साफ रखना ही अधिक चतुरता है—

धर्मार्थमपि विप्राणां संचयोऽर्थस्य गर्हितम्।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥
(पद्म० सृष्टि० १९।२३०, स्कन्द० नागर० ३२।३८, महा० अनु० ९३, पञ्चतं० २। १६५, हितो० १। १८१)

इसी प्रसंगमें कश्यपने कहा था—

अर्थ स्वभावतः ही मोहोत्पादक होता है और मोह सीधा नरकका कारण होता है। अर्थसे प्राप्त होनेवाला धर्म भी अनित्य एवं साधारण है, तपद्वारा प्राप्त होनेवाला धर्म ही मोक्ष देनेमें समर्थ तथा शक्तिशाली होता है—

योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः।
यः पुनस्तपसा साध्यः स मोक्षायेति मे मतिः॥
(स्कन्द० नागर० ३२। ४०-४१)

जमदग्निका कहना था कि 'अर्थप्राप्ति ब्राह्मणके लिये हर्ष नहीं, शोकका कारण है। यह तो नरककी यन्त्रणाओंका द्वारमात्र है। (वही ३२। ४३)। इसीलिये भागवतमें कुन्तीदेवी भगवान्‌से विपत्तिका ही वरदान माँगती हैं—'विपदः सन्तु नः शश्वत्'। तुलसीदास बार-बार भगवान्‌को 'दीनहित, दीनदयालु, दीनपियारे वेदपुकारे' आदि कहते हैं।

दर्शन, उपनिषदादिकी सम्मति

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।', 'प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्', 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (बृहदा० २। ४। २) येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः' इत्यादि वचनोंमें धनकी अकिंचित्करता प्रतिपादित है। पञ्चदशीकारका कथन है 'धिगर्थान् क्लेशकारिणः' (तृप्ति० १६८)। पद्मपुराणका तो यहाँतक कथन है कि धनार्जनमें प्रसक्त ब्राह्मण तो अपनी जातिसे ही च्युत हो जाता है—

धनलोभे प्रसक्तस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते।
स्थित्यर्थादधिकं गृह्णन् ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्॥
(स्वर्गखण्ड ५७। ७०)

अर्थशास्त्रमें भी धनकी निन्दा

इतना ही नहीं, नीतिकल्पतरु, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा पुराणोक्त राजनीतियोंमें भी धनकी बेतरह निन्दा है। उनके सारभूत वचन देखें—

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्वा जायते नृपः।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥
(पञ्च० २। १२२)

प्रसिद्ध नीतिकार नारायणका कथन है कि क्या सुवर्णमालामात्र धारण कर लेनेसे कुत्ता सिंहसे टक्कर लेने लगेगा ? उसमें शेरकी-सी चमक आ जायगी ?

द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ?

कौटल्य भी अपने अर्थशास्त्रमें लिखता है, 'अर्थोऽनर्थानुबन्धः' (कौ० अर्थशा० ९। ७। १८) इत्यादि। इस अध्यायमें अनेकानेक अर्थानुबन्ध अर्थ बतलाये गये हैं। 'शार्ङ्गधरपद्धतिकार' भी खिन्न होकर 'धिग्धिग्धनं तद् बहु' लिखकर अनेक प्रकारसे धनको दुःखकर दिखलाते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्त्य अर्थशास्त्री मार्क्सने अपने ग्रन्थका नाम ही 'कैपिटल' (पूँजी) रखकर इसकी कटु आलोचनाएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त लोभकी जो इतनी साधु-संतों तथा शास्त्रोंने निन्दा की है, उसका आधार यह धन ही तो है। साथ ही संस्कृत-साहित्यमें 'अर्थ'का एक अर्थ विषयभोग भी होता है। उदाहरणार्थ 'शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः' इस उपनिषद्वचन तथा 'जानत अर्थ अनर्थ रूप तमकूप परब एहि लागे' इस विनय-पत्रिकाके पदमें अर्थका भाव 'विषयोपभोग'से ही है। यहाँ काम तथा धनकी एक समान ही निन्दा की गयी है।

राज्य भी सात्त्विक नहीं

इसके अतिरिक्त आजकल लोगोंको एक और बड़ा भारी चस्का लगा है। जहाँ देखिये सर्वत्र राजनीतिकी ही चर्चा होती है। इनमेंसे अधिकांश मन्त्री, राष्ट्रपति आदि पदोंके लिये लालायित हैं। पर राजकार्य सात्त्विक नहीं है। वहाँ रजका ही बाहुल्य है*। और आजकी राजनीति तो सर्वथा तमसाच्छन्न है। कहा जाता है कि राजा प्रजाका सेवक होता है। वह दुष्टोंका शास्ता तथा साधुओंका रक्षक होता है। यही बात भागवतमें रहूगणने भरत महर्षिसे कही थी—

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां यः किंकरो वै न पिनष्टि पिष्टम्।
(स्क० ५ अ० १०।२३)

किंतु राजकार्य तथा पद ही कुछ ऐसा होता है कि उस आसनपर जाते ही क्रोध-मदादि दोष आ घेरते हैं और प्रमादकी तो पग-पगपर ही सम्भावना बनी रहती है। उसे बेगार तथा पूजा मिलने ही लगती है। इसीलिये भरत ऋषिने कहा—

विष्ट्या निगृह्णन् निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः।
(स्क० ५।१२।७)

ससि गुरु तियगामी नहुष चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा अधम को बेन समान॥
सहसबाहु सुरनाहु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥

* रागान्धश्चैव राजसिकस्तेन राजा प्रकीर्त्तितः।
(ब्रह्मवै० गण० ३५।७७)

जग बौराइ राज पदु पाए। —आदि

राजाकी इससे बढ़कर निन्दा और क्या हो सकती है कि उसे दस वेश्याओंके समान तुच्छ कहा गया। 'दशवेश्यासमो नृपः।' (मनु० ४।८५, वाराहपु० पद्मपुराण सृष्टि० १९।२३६, स्कन्द० नागर० ३२।१९, महा० अनुशा० ९३।२०) इसी प्रकार राजनीतिको भी वेश्यासे उपमा दी 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।' (नीतिशतक ४७, पञ्चतन्त्र १।४५९, हितोपदेश १।१८३) और राजाके प्रतिग्रहको घोर नरकदायी बतलाया गया है। 'घोरस्तस्य प्रतिग्रहः।' (मनु० ४।८७, पद्म० सृष्टि० १९।२३४, स्कन्द० नागर० ३२।२०, महा० अनु० ९३।३४ आदि) मनुके एक टीकाकारने यद्यपि इसे शूद्रराज्यविषयक बतलानेकी चेष्टा की है, तथापि उपर्युक्त पाद्म-महाभारतादिके उदाहरणोंसे इसकी सर्वराज्यविषयकता स्पष्ट ही दीखती है। वस्तुतः जहाँ 'राजतो धनमन्विच्छेत्' है, वहाँ आपद्धर्मकी बात है, यह 'संसीदन् स्नातकः क्षुधा' (४।२३) से स्पष्ट है। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डके २३वें अध्यायमें तो हरिकेश-जैसे धर्मात्मा ब्राह्मणके लिये अम्बरीष-जैसे राजासे यज्ञमें भी दान लेनेसे ब्रह्मराक्षस होना लिखा है और अन्तमें यह उपदेश है—

विषयामिषलुब्धो यः कुर्याद्राजप्रतिग्रहम्।
नरके रौरवे घोरे तस्येह पतनं ध्रुवम्॥
वृक्षा दावाग्निना दग्धाः प्ररोहन्ति घनागमे।
राजप्रतिग्रहादग्धा न प्ररोहन्ति कर्हिचित्॥
(वही २३।३०–३२)

अर्थात् राजासे दान लेनेवाला लोभी घोर नरकमें गिरता है। दावाग्निदग्ध वृक्ष तो वर्षारम्भमें पुनः उगते हैं, किंतु राजाके दानसे दग्ध प्राणी फिर नहीं उग सकता। श्रीशा डेसमण्ड लिखता है—राजनीति मनुष्यको नीचे गिरा देती है। वह भलेको बुरा और बुरेको तो जघन्यतम बना देती है—They turn good man into bad and bad into worse. (World birth, Page 247) वस्तुतः इसपर अधिक लिखना व्यर्थ है। ये बातें बहुत मोटी हैं और सूर्यके आलोकको तरह स्पष्ट हैं। पर स्वार्थमें पड़ा व्यक्ति इन्हें कब मानने लगा?

भल अनभल जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥

परिणामस्वरूप कोई विशुद्ध सात्त्विक, सच्चा त्यागी या सज्जन व्यक्ति राजा या मन्त्री आदिके कार्यमें पड़ना चाहता

नहीं। आज भी अधिकांशमें लोभी लोग ही खड़े होते हैं और विवश होकर जनताको इनमेंसे ही किसी एकको चुनना पड़ता है। परिणामतः प्रायः राज्य सदा ही राजसी तथा स्वार्थ-वृत्तोंके ही हाथ रहता है। सात्त्विक व्यक्ति भी इनमें पड़कर प्रायः वैसा ही हो जाता है। जब कामोपभोगपरायणताको ही जीवनका परम ध्येय मानकर मानवसमाज आसुरी सम्पदा-सम्पन्न बन जाता है, तब धन, विषयभोग, राज्य-अधिकार आदिका ही सर्वत्र मनोरथ छा जाता है। ऐसी अवस्थामें वैसे ही नेता, वैसी ही जनता, वैसे ही उपदेश तथा उनके वैसे ही आचार-विचार तथा कर्म हो जाते हैं। प्रायः सभी लोग अध्यात्म और भगवान्को भूलकर जिस किसी भी प्रकार-से इन्द्रिय-सुख, धन, राज्य आदिके अर्जनमें ही जीवनका असफल उपयोग करके मानव-जीवनको व्यर्थ खो देते हैं। आज यही हो रहा है। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

सती-धर्मकी उपादेयता

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

आधुनिक मनोविज्ञानके क्षेत्रमें फ्रायडके बाद सबसे अधिक नाम डाक्टर विलियम मैग्डूगल साहबने कमाया है। इन्हींकी प्रसिद्ध पुस्तक सोशल साइकोलोजी (सामाजिक मनोविज्ञान) से कुछ उद्धरण उपस्थित करता हूँ—

In a society in which all women were noble and beautiful and chaste, there would be no sexual problem and disorder.

यदि किसी समाजकी सभी स्त्रियाँ उच्चाशय, सुन्दर एवं सती हों तो वहाँ किसी प्रकारकी लैङ्गिक समस्या या उलझन पैदा नहीं होती।

We find that among all peoples, save the very lowest in the scale of culture, the institution of marriage and the duties of parenthood are surrounded by the most solemn social sanctions which are embodied in traditional public opinion and in custom, in formal laws and in the rules and doctrines of religion. These sanctions are in the main the more solemnly and rigidly maintained by the society, the higher the degree of civilization attained by it and the freer and more nearly universal play of the intellectual faculties among the members of that society.

नितान्त असभ्य जातियोंको छोड़कर सभी जातियोंमें विवाह-संस्था और संतानके प्रति माता-पिताका उत्तरदायित्व समाजके दृढ़ नियन्त्रणमें रहते हैं। इन नियन्त्रणोंका पता हमें उस जातिके परम्परागत लोकमत, रूढ़ी, कानून, आचार-विचार एवं धार्मिक सिद्धान्तोंसे चलता है। जो जाति जितनी श्रद्धा एवं कठोरताके साथ इन नियन्त्रणोंका पालन करती है, वह अपनी सभ्यताको उतना ही अधिक उन्नत करती है और उतनी ही अधिक उस जातिके सदस्योंकी प्रतिभा जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपना चमत्कार प्रकट करती हुई दिखलायी पड़ती है।

For those societies in which no such sanctions became organised must have died out; while only those in which the intelligence became more powerful, these sanctions became more formidable, have in the long run survived and reached any considerable degree of civilization. There have been, we may see, a never ceasing race between the development of individual intelligence and the increasing power of these social sanctions, and whenever the former has got ahead of the latter, there socia disorder and destruction have ensued.

जिन जातियोंमें इस प्रकारके नियन्त्रण लागू नहीं हो पाये, वे नष्ट हो गयीं। केवल वे ही जातियाँ, जिनमें बुद्धिके विकासके कारण इस प्रकारके सामाजिक नियन्त्रण कठोरता-पूर्वक लागू किये गये, जीवित रह पायी हैं और उन्हींमें सभ्यताका समुचित विकास हो पाया है। ज्ञान और बुद्धिके प्रसारके साथ-साथ सदाचार-सम्बन्धी नियमोंकी अवहेलना करना कठिन होता जाता है और जहाँ कहीं बुद्धि सदाचारका साथ छोड़कर आगे निकल जाती है। वहीं समाजका विघटन और विनाश प्रारम्भ हो जाता है।

गीतामें अर्जुनने भी इस ओर संकेत किया है—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

1. 'Social Psychology' by Dr. William Mcdougall, 30th edition—1950.

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
(१ । ४१—४३)

श्रीकृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलीन स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके पापाचारी हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है और वह वर्णसंकर सारे कुल और कुलघातियोंको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। (दुराचारके कारण प्रत्येक कुलमें ऐसी संतान हो जाती हैं जिनमें उन कुलके पुरुषोंका रक्त नहीं होता, इसलिये) उस कुलके पितरोंका स्मरण करने अथवा उनका श्राद्ध करनेमें उनकी स्वाभाविक रुचि नहीं होती, इस प्रकार श्राद्ध-क्रियाके लोप हो जानेसे इनके पितर भी गिर जाते हैं। (यह आवश्यक नहीं कि सनातनधर्मके अनुसार ही पितरोंका श्राद्ध किया जाय, यदि प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्वजोंसे अपना सम्बन्ध महसूस करती है और किसी-न-किसी रूपमें उनका समादर करती है तो वस्तुतः वह श्राद्ध-पुण्यकी अधिकारी है। श्राद्धकी क्रियाएँ इसी भावनाको जाग्रत् रखनेके लिये की जाती हैं।) जब दुराचारके कारण समाजसे यह भावना नष्ट हो जाती है, तब उसे अपने इतिहाससे बल मिलना बंद हो जाता है और इन वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले पापके कारण कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

गीताने दुराचारजनित तीन दोष बतलाये हैं—दुराचारसे जो संतान होती है वह पापबुद्धि होती है, दुराचारके कारण पितरोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, दुराचारके कारण गृहस्थाश्रम नष्ट हो जाता है जो सारे संगठनोंका आधार है। गृहस्थके टूटते ही वर्ण, जाति, राष्ट्र, कुटुम्ब सभी बिखरने लगते हैं। मैग्डूगल साहब यह तो नहीं कहते कि दुराचारसे जो संतान होती है वह पापबुद्धि होती है, परंतु दुराचारके कारण श्राद्ध-क्रियाका लोप और सभ्यताओंके नष्ट होनेकी बात वे मानते हैं और उसके उदाहरण भी देते हैं—

A weakening of the social sanctions of the parental and reproductive instincts by developing intelligence has played a great part also in the destruction of some of the most brilliant and powerful societies of the past, notably those of ancient Greece and Rome.

—(श्रद्धाविहीन) बुद्धिने विकसित होकर जहाँ प्रजनन और संतानके प्रति उत्तरदायित्व-सम्बन्धी नियन्त्रणको ढीला कर दिया, वहाँ उच्च-से-उच्च और सबल-से-सबल जातियाँ नष्ट हो गयी हैं। प्राचीन कालमें यूनान और रोमकी सभ्यताएँ इसी कारण नष्ट हो गयी थीं।

It is for this reason that ancestor-worship is so eminently favourable to national stability. In fact the high civilizations of ancient Greece and Rome rested on a firm basis of the kind until their decline began.

The cult of ancestors has played a similar part in Japan.........It is probable that China also owes her immense stability and immense power in a large measure to similar causes.

इसी कारणसे पितर-पूजा राष्ट्रीय जीवनके लिये बहुत लाभदायक है। वास्तवमें प्राचीन यूनान और रोमकी महान् सभ्यताएँ पतन-कालसे पूर्व इसी प्रकारके पितर-पूजनपर आश्रित थीं।

जापानमें भी पितर-पूजाके रिवाजने बहुत लाभ पहुँचाया है।...सम्भवतः चीनकी अगाध शक्ति और उसकी सभ्यताका इतना दीर्घ जीवन इन्हीं सामाजिक नियन्त्रणों और पितर-पूजनके कारण है।

समाजमें सदाचारके नियमोंका पालन होता रहे, इसके लिये राजभय और सामाजिक नियन्त्रणकी आवश्यकता है, परंतु इन्हींसे काम नहीं चलता; क्योंकि युद्ध-विप्लव आदिके कारण राजतन्त्र बीच-बीचमें ढीला पड़ता रहता है और यदि राजसत्तापर दुराचारियोंका अधिकार हो गया तो उलटे राजसत्ताके बलपर दुराचार एवं अनाचार फैलाये जाते हैं। जब समाजके उच्च एवं सबल वर्गोंमें दुराचार फैल जाता है, तब सामाजिक नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है। यही कारण है कि रोम एवं यूनानमें जहाँ सदाचार केवल राज्य और समाजके नियन्त्रणपर आश्रित था, नष्ट हो गया। इस विषयपर श्रीमैथ्यु आर्नल्ड महोदयने काफी विचार* किया है। उनकी रायमें—

The mass of mankind have neither force of intellect enough to apprehend them clearly as ideas, nor force of character enough to follow them strictly as laws. The mass of mankind can be carried along a course full of hardship for the natural man, can be borne over the thousand impediments of the narrow way, only by the tide of a joyful and bounding emotion.—

सामान्य जनतामें न तो इतनी प्रखर बुद्धि ही होती है कि वे नैतिक नियमोंकी उपादेयताको ठीक-ठीक समझ सकें

* Matthew Arnold: Essays, Literary and Critical, Published by J. M. Dent & Sons Ltd., London, edition of 1950.

और न इतना चरित्रबल ही होता है कि वे उनपर ठीक-ठीक नियमपूर्वक चल सकें। कठिनाइयों और आपदाओंसे भरे हुए नीतिके बीहड़ मार्गपर सामान्य जनता तभी चल सकती है जब चलनेमें उसे एक आनन्दमय और उमंगोंसे भरी हुई भावना उमड़ती हुई अनुभूत हो।—इस प्रकारका भावावेश कुछ विशिष्ट सज्जनोंमें ही पाया जाता है।

The paramount virtue of religion is that it has lighted up morality, that it has supplied the emotion and inspiration needful for carrying the sage along the narrow way perfectly, for carrying the ordinary man along it at all.

धर्मके द्वारा जो जोश, उमंग और भावावेश प्राप्त होता है वह इतना ही है कि केवल संत लोग उसके बलपर नैतिकताके संकटपूर्ण मार्गपर ठीक-ठीक चल सकें, साधारण व्यक्तिको इससे बहुत ही कम सहारा मिलता है।

इस प्रकार जनसाधारणको अनीतिके मार्गसे रोकनेके लिये केवल राजदण्ड, सामाजिक नियन्त्रण और धर्मोपदेश ही पर्याप्त नहीं हैं। व्रत, त्यौहार, रीति, रस्म, रिवाज, यज्ञ, अनुष्ठान, समारोह, कला, साहित्य इत्यादि द्वारा दुराचार-विरोधी उन भावनाओंको विकसित करनेसे ही दुराचार रुक सकता है, जो भावनाएँ स्वाभाविक एवं प्राकृतिक हों, जिनमें मनुष्यका सहज आकर्षण हो और जो जनसाधारणके अंदर पर्याप्त जोश और उत्साह पैदा कर सकें। जिससे नीतिके मार्गपर चलनेमें उन्हें आनन्द और रसका अनुभव हो।

वैवाहिक और दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी सदाचरणको लेकर केवल तीन भावनाएँ ही ऐसी मिलती हैं जिनमें मानव-प्रकृतिका स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुराचारविरोधिनी हैं और जो उमंग और उत्साह उत्पन्न करनेमें समर्थ पायी जाती हैं।

१ मातृत्व, भगिनीत्व और पुत्रीत्वकी भावना—संसारकी स्त्रियोंको अपनी माता, बहिन एवं पुत्री समझना। इन भावनाओंमें बड़ा आनन्द है और इनके बलपर मनुष्य दुराचारसे बच जाता है। हमारे अनेक त्यौहार हरितालीतीज, रक्षाबन्धन, भैयादूज, फुलेरादूज इत्यादि इन भावनाओंको पुष्ट करते हैं। बेटीकी ससुरालमें भोजन न करना, लड़कियोंको दहेज, सिन्दारे, भात, छूछक, खिचड़ी इत्यादि देना, कुमारी लड़कीके हाथकी रोटी न खाना—आदि प्रथाएँ इन भावनाओंको विकसित करती हैं। परंतु इन भावनाओंका क्षेत्र सीमित है। सभी स्त्रियोंको माता, बहिन एवं पुत्री समझनेमें एक-सा रस नहीं उमड़ता।

२ ब्रह्मचर्य—अखण्ड ब्रह्मचर्य स्वभावतः अपनी ओर जनसमाजकी श्रद्धा खींचता है। परंतु सभीके लिये ब्रह्मचर्यका विधान नहीं हो सकता। ऐसा करनेसे गृहस्थाश्रम ही टूट जायगा। वैसे ब्रह्मचर्यका जातीय-जीवनमें जितना अधिक स्थान होगा, उतना ही सदाचारके बन्धनोंको पालनेमें आसानी होगी। विवाहित जीवनमें भी ब्रह्मचर्यका थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य होना चाहिये और वह है भी।

३ सतीत्व—सतीत्वकी भावना और उसके प्रति आदर एवं प्रेम सभी जातियोंमें पाया जाता है, किंतु उसे विकसित कुछ ही जातियोंने किया है, जिसमें हमारी आर्यजाति प्रमुख है। इस भावनाको विकसित करनेपर पुरुषोंमें दुराचारसे बचनेके लिये निस्सीम बल आ जाता है और स्त्रियाँ इस भावनाके बलपर घोर-से-घोर विपदाओंमें भी अपने चरित्रकी रक्षा करनेमें सफलता प्राप्त करती हैं। यह भावावेश, यह उमंग विधवाओंको ब्रह्मचर्यमें स्थिर रहनेकी विलक्षण शक्ति प्रदान करता है और इसीकी मस्तीमें क्षत्राणियाँ हँसती हुई जौहर व्रतका पालन करके जलती अग्निका आलिङ्गन करती हैं। यह हमारे आर्य राष्ट्रकी चिर संचित पूँजी है। हमें इसे अपने पूर्वजोंकी धरोहरके रूपमें ही समझना चाहिये और लापरवाही तथा मूर्खताके वशीभूत होकर इसका तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये। मुस्लिमकालमें हम इसी भावनाके बलपर जीवित बच पाये हैं और योगी श्रीअरविन्दके शब्दोंमें हिंदूकालमें भी केवल इसीके बलपर हम नष्ट होनेसे बच गये।

*With these supreme gifts Kalidasa had the advantage of being born into an age with which he was in temperamental sympathy and a civilization which lent itself naturally to his peculiar descriptive genius............The ideals of morality were much lower than of old; yet the unconquerable monogamous instinct of the high-class Hindu women seems to have prevented promiscuous vice and the disorganization of the home.—इन गुणोंके साथ कालिदास एक ऐसे युगमें पैदा हुए थे, जिससे उनका स्वभाव मेल खाता था और एक ऐसी सभ्यतामें उन्होंने जन्म लिया था जिसका वर्णन उनकी विशेष प्रतिभाके अनुकूल था। यद्यपि प्राचीनकालके नैतिक आदर्श उस युगमें काफी नीचे गिर गये थे, फिर भी उच्चजातीय हिंदू ललनाओंकी सहज सतीत्वकी सहज स्वाभाविक भावना अजेय बनी रही, जिसके कारण अनर्गल व्यभिचार फैलनेसे रुक गया और पारिवारिक जीवन टूट नहीं पाया।

* **Kalidasa by Sri Aurobindo, second edition, 1950.**

मधुर

भगवान् परम प्रियतम श्यामसुन्दरके मथुरा पधार जानेपर श्रीराधाजी दिन-रात उनके विरहमें व्याकुल एवं उनके स्मृति-सुखसे सराबोर रहा करतीं। उनकी विलक्षण (युगवत् विरुद्धधर्माश्रयी) स्थिति सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अन्य सबके लिये—बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुषों एवं महान् देवताओंके लिये भी अचिन्त्य है। फिर, विलास-विभ्रम-रत, मोहावृत, भोग-दासतामें नित्य संलग्न एवं कामनाके विषमज्वरसे संतप्त मुझ-सरीखा इन्द्रियारामी तो कल्पना ही कैसे कर सकता है? उनकी अतुल अनुकम्पासे केवल बाह्यरूपमें जो यत्किंचित् चिन्तन हो जाता है, यही परम सौभाग्य है।

एक दिन श्रीराधारानीने अपनी एक प्रिय सखी (ललिताजी) को पास बुलाकर रोते-रोते अपने स्वप्नकी घटना सुनायी—'सखी! मैं रात्रिभर अपनी सुध-बुध खोये जाग रही थी, प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें लीन मैं बड़ी सुखी थी! मेरी रात्रि सदा ही यों (स्मृति-सुखमें) जागते बीतती है, पर वह स्मृतिकी खान (इतनी अनन्त है कि) कभी खाली होती ही नहीं। आज प्रातःकाल सहज ही मुझे नींदकी झपकी आ गयी और उसने मुझको मथुरापुरीमें पहुँचा दिया। वहाँ (प्रियतम) की दशा देखकर मैं विचलित हो गयी, उसी क्षण मेरी मानस-शान्ति नष्ट हो गयी।'

जग रही थी रात भर सुधिहीन मैं।
थी सुखी प्रियके स्मरणमें लीन मैं॥
नित्य ही जगते निशा यों बीतती।
श्यामकी स्मृति-खान तदपि न रीतती॥
आज प्रातः सहज झपकी आ गयी।
वह मुझे मधुपुरीमें पहुँचा गयी॥
देखकर मैं दशा विचलित हो गयी।
उसी क्षण मन-शान्ति मेरी खो गयी॥

(मैंने देखा—) वे श्यामसुन्दर (पुष्प-) वाटिकामें घूम रहे थे और लगातार दुखी, व्याकुल हुए जा रहे थे। उनके नेत्र (-युगल) अश्रु-जल बरसा रहे थे, जिनसे उनकी व्याकुलता और भी बढ़ी जा रही थी। (उनके मुखसे ये शब्द निकले—) 'हा प्रिये! हा राधिके! हृदयेश्वरी! हा (मेरे) सभी सुखोंकी साधिके! प्राणेश्वरी! लोग कहते हैं कि यहाँ (मथुरामें) सुखके विशाल साधन हैं, पर मैं तो यहाँ दुःखराज्य ही छाया देखता हूँ। तेरे बिना मुझे एक पल भी सुख नहीं है, मेरे चित्त-की व्याकुलता अधिक-से-अधिक बढ़ी जा रही है।' यों बिलखते हुए ही वे सहसा (मूर्छित होकर) भूमिपर गिर पड़े, मैंने दौड़कर उनका मस्तक अपनी गोदमें ले लिया + हाय! इतनेमें ही तुरंत मैं जग गयी, बस, मेरे प्राणोंमें दारुण दावानल जल उठा।

वाटिकामें घूमते वे श्याम थे।
दुखी व्याकुल हो रहे अविराम थे॥
नेत्र थे आँसू-सलिल बरसा रहे।
विकलताको और भी सरसा रहे॥
'हा प्रिये! हा राधिके! हृदयेश्वरी!
हा सकल सुखसाधिके! प्राणेश्वरी!
लोग कहते यहाँ अति सुख-साज है।
देखता मैं, छा रहा दुख-राज है॥
है नहीं तेरे बिना सुख एक पल।
चित्त अधिकाधिक हुआ जाता बिकल॥'
बिलखते यों पड़े सहसा भूमिपर।
दौड़, मैंने ले लिया निज गोद सिर!
हाय! इतनेमें तुरत मैं जग गयी।
अग्नि दारुण प्राणमें बस, लग गयी॥

मैं उसी समयसे मन लगाये सोच रही हूँ कि वे प्रियतम क्यों मेरे लिये इतने व्याकुल हो रहे हैं। मैं तो रूप-गुणसे रहित तुच्छ नगण्य हूँ, मैं कुबुद्धि तथा कुत्सित भाववाली नित्य नीच हूँ। उनके रिझानेके योग्य एक भी गुण मुझमें नहीं है, उल्टे सभी नितान्त निन्दनीय दोष भरे हैं। (हाँ, एक बात है—) मैं उन्हें कभी

भी भूलती नहीं हूँ। (बस, मेरी यह उनकी स्मृति ही उनके मनमें प्रतिबिम्बित होती है) बस, इसी कारण मैं नीच सदा उनके सरल हृदयमें झूलती रहती हूँ। बस, मेरी यह स्मृति ही छूरी बनकर उनके (चित्तपर) चोट करती रहती है। मैं यदि उन्हें अभी भूल जाऊँ तो फिर मेरे उन प्रियतमको कभी दुःख न हो।

सोचती हूँ, तभीसे मैं मन दिये।
हो रहे क्यों विकल प्रिय मेरे लिये॥
रूप-गुणसे हीन तुच्छ नगण्य मैं।
कुमति, कुत्सित-भाव नित्य जघन्य मैं॥
है रिझानेको नहीं गुण एक भी।
निन्दनीय नितांत दोष भरे सभी॥
हूँ नहीं मैं कभी उनको भूलती।
इसी कारण, बस, (जो) रहती झूलती—
सदा उनके सरल मनमें, मैं बुरी।
(यह) स्मृति ही आघात करती बन छुरी॥
भूल उनको मैं अगर जाऊँ अभी।
तो न हो फिर दुःख प्रियतमको कभी॥

(परंतु सखी !) मेरे प्राणोंका आधार तो प्रियतमका स्मरण ही है। उनका विस्मरण तुरंत ही मेरे प्राण हर लेगा। पर यदि मेरे प्राणधन दुःखसे मुक्त होते हों तो मैं सुखी मनसे ऐसे लाख-लाख प्राणोंका परित्याग कर दूँगी। हे प्रभो ! (मेरे मनसे) श्यामसुन्दरकी स्मृतिको अभी हरण कर लो। मैं सुखसे मर जाऊँ और हे विभो ! मेरे प्रियतम सुखी हो जायँ।

प्राणका आधार है प्रियका स्मरण।
प्राण हर लेगा तुरत ही विस्मरण॥
किंतु दुःख-विमुक्त हों यदि प्राणधन।
लाख ऐसे प्राण दूँगी सुखी मन॥
श्यामकी स्मृति अभी तुम हर लो प्रभो !
मरूँ सुखसे, हों सुखी प्रियतम विभो !

ललिताने बहुत कुछ समझाया-बुझाया, पर श्रीराधिकाजीको उससे जरा भी सान्त्वना नहीं मिली। वे दुःख-संतप्त हृदयसे अपनी भावनिमग्न स्थितिमें ही फिर कहने लगीं—

'सखी ! मेरे समान पापी तथा दुःखका धाम जगत्में अन्य कोई भी नहीं है, जिसके कारण मेरे प्रियतम दुखी रहते हैं। कभी शान्ति नहीं पाते। मैं आठ पहरमें एक पल भी प्रियतमको भूल नहीं सकती, यही कारण है कि मेरी स्मृतिसे वे घनश्याम सदा व्यथित रहते हैं। सुखोंके समस्त साधन, पवित्र सेवक, सुन्दर महल, रमणीय बाग-बगीचे, सदा सेवामें लगी हुई गुण-सौन्दर्यसम्पन्न परम मधुरिमामयी ललाम ललनाएँ (उन्हें उपलब्ध हैं)। यह सब होनेपर भी उनके हृदय-मन्दिरमें जो मेरी स्मृति छायी रहती है, इससे उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता और वे जरा भी आराम नहीं पाते। (उनकी इस मेरी स्मृतिका कारण है मेरे हृदयमें रहनेवाली उनकी नित्य स्मृति) अतः मैं यदि उन्हें भूल सकूँ तो वे सुखधाम श्याम भी मुझे भूल जायँ, फिर तो वे मेरे प्रियतम प्राणाराम सभी अनुकूलताओंको प्राप्त करके सहज ही सुखी हो जायँ।

सखी ! न कोई और जगत्में
मुझ-सा कहीं अघी दुख-धाम।
जिसके कारण रहते प्रियतम
दुखी, नहीं पाते विश्राम॥
भूल न सकती मैं प्रियतमको
एक पलक भी आठों याम।
इसीलिये वे मेरी स्मृतिमें
रहते सदा व्यथित घनश्याम॥
सुख-साधन समग्र, सेवक शुचि,
सु-प्रासाद, रम्य आराम।
ललना गुण-सौन्दर्य परम
माधुर्यमयी सेविका ललाम॥
सब कुछ होनेपर भी रहती
मेरी स्मृति छाई उरधाम।
इससे कुछ न सुहाता उनको,
पाते नहीं तनिक आराम॥
मैं यदि भूल सकूँ, तो वे भी
भूल जायँ मुझको सुखधाम।
पाकर सब अनुकूल, बनें
वे सुखी सहज प्रिय प्राणाराम॥

(अतः मेरी) प्रिय सखी ! तुम तुरंत ऐसा कोई सिद्धिप्रद कार्य करो, जिससे मेरे मनसे उनकी, मृतकको जिला देनेवाली सारी स्मृति मिट जाय । या फिर, मुझे ही (कोई उपाय) बताओ, जिसे मैं मन लगाकर लगातार करूँ, जिससे वे मेरे प्राणधन सुखी हो जायँ और (उनका) सुन्दर मुखकमल खिल उठे ।'

प्यारी सखी ! करो तुम ऐसा
कोई तुरत सिद्धिप्रद काम ।
मेरे मनसे मृत-संजीवनि
स्मृति उनकी मिट जाय तमाम ॥
मुझे बताओ या मैं जिसको
करूँ अभी मनसे अविराम ।
जिससे हों वे सुखी प्राणधन
खिले वदन-पंकज अभिराम ॥

श्रीराधाके इन करुण उद्गारोंको सुनकर ललिताजीके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली, वे कुछ भी बोल न सकीं । तब श्रीराधाजी ही अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये भगवान् नारायणसे प्रार्थना करने लगीं । वे हाथ जोड़कर बोलीं—

'हे नाथ ! अब मुझपर कृपा कीजिये । हे यशोदा मैयाके इष्टदेव नारायण !* मुझपर प्रसन्न हो जाइये । (आप प्रसन्न होकर) मेरे मनसे श्यामसुन्दरकी मधुर स्मृतिको इसी क्षण हर लीजिये, जिससे वे मुझे भूल सकें और उन्हें सच्चा सुख प्राप्त हो । (उनकी स्मृतिसे रहित रहनेपर आधाररहित होनेसे मेरे प्राण चले जायँगे; परंतु) प्रियतमके सुखके लिये मेरे प्राण यदि जायँगे तो मेरी मनोकामना सफल हो जायगी । इससे अधिक दूसरा कोई भी लाभ मेरी समझमें नहीं आया ।

नाथ ! अब मो पै कृपा करौ !
जसुमति मैया के नारायन ! मो पै आजु ढुरौ ॥
मोरे मन तैं मधुर स्याम की सुधि तत्काल हरौ ।
जातैं भूलि सकैं वे मो कूँ सुख हो बिनैं खरौ ॥
प्रिय-सुख-काज प्रान जो जावैं, मेरो काज सरौ ।
या तैं अधिक लाभ नहिं दूजो मो कूँ समुझि परौ ॥

इसपर कुछ लिखने-पढ़नेका न अधिकार है, न योग्यता ही ।

पापका बाप लोभ

पापका धन सदा रह सकता नहीं । क्योंकि, उसको धर्म सह सकता नहीं ॥
झोंपड़ीकी आगसे होता प्रकाश । किंतु वह कर डालती है सर्वनाश ॥
फैल जाता फिर सभी विधि अंधकार । फूँककर सब, मूढ़ होता निराधार ॥
इसीसे, मत पापका संग्रह करो । सर्वद्रष्टा सजग ईश्वरसे डरो ॥
समझकर भगवान्के शुभ भावको । मत बढ़ाओ भोगजनित अभावको ॥
त्यागके आदर्शको मन मान दो । भोगके परिणामपर अब ध्यान दो ॥
पापसे सम्पन्न जो धनवान है । जोड़ता वह नरकका सामान है ॥
भले उसका जगत्में सम्मान हो । पूजते उसको कथित विद्वान् हो ॥
कभी मत चाहो कि वैसे बनो तुम । दुर्दशा भावी समझकर डरो तुम ॥
सादगी निर्लोभवृत्ति न पाप है । लोभ अघसंतति सकलका बाप है ॥

* श्रीराधाजीने सुन रक्खा था कि यशोदा मैया तथा नन्द बाबाके इष्टदेव श्रीनारायणकी कृपासे ही श्यामसुन्दरका शुभजन्म तथा बड़े-बड़े विकट दैत्योंसे उनका संरक्षण हुआ था । वे नारायण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं और यशोदा मैयापर उनकी बड़ी ही कृपा है । अतएव यशोदा मैयाका सम्बन्ध स्मरण कराती हुई वे नारायणसे प्रार्थना करती हैं ।

जडवाद–भौतिकवाद

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

जब ब्रह्मवादी यह विचार करनेके लिये एकत्रित हुए कि इस सृष्टिका कर्ता कौन है। तब व्यापक ध्यान लगाकर उन्होंने यह जान पाया कि—

सृष्टि-उत्पत्तिके विषयमें कई पक्ष हैं और सभी अपने-अपने पक्षका समर्थन कर रहे हैं—

एक पक्ष यह भी है कि यह जो सृष्टि दिखलायी पड़ रही है, इसे किसीने नहीं बनाया। इसका तो स्वभाव ही है बनना और बिगड़ना।

दूसरे यह कहते हैं कि स्वभाव आदि कुछ नहीं। यह तो कालके कारण ही है। वही बनाता-बिगाड़ता है—अपने इच्छानुसार।

यह कोई नहीं सोचता कि—

देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

यह तो उस भगवान्की, देवकी महिमा है जिसके कारण यह ब्रह्मचक्र, यह सृष्टिचक्र, सदा घूमता रहता है। इसकी समयपर विशेषरूपसे उत्पत्ति होती है ईश्वराभिध्यानसे—वही इसका धारण करता है और अवधि समाप्त होते ही महाप्रलय हो जाता है, यह सब उस भगवान्की महिमा है। पाश्चात्त्योंमें जो भौतिकवाद प्रचलित हुआ, स्वभावको ब्रह्मचक्रका कारण माननेसे हुआ। सौ वर्ष पूर्व कार्ल मार्क्सने यही सोचा कि यह सृष्टिका 'स्वभाव' ही है बनने-बिगड़नेका।

उसने यह तो मान लिया कि यह सृष्टिका स्वभाव ही बनने-बिगड़नेका है। पर उसके सामने दूसरा प्रश्न खड़ा हो गया कि ये जीव कहाँसे आये। उसने सोच-विचारकर निर्णय किया कि जीव भी इन जड भूतोंसे उत्पन्न हुए। शायद इनकी उत्पत्ति इसी प्रकार जीवोंके स्वभावके कारण ही हो। यह तो कार्ल मार्क्सकी अपनी अटकल ही थी। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।

कारणोंके गुण कार्यमें अवश्य आते हैं। जब यह सृष्टि उत्पन्न हुई अपने स्वभावके कारण, तब उसी जडमेंसे ये चेतन जीव कहाँसे आ गये?

बस, कार्ल मार्क्स फिर कुछ सोच नहीं सका कि आगे क्या होगा। उसने यही सिद्धान्त निकाला कि जब सृष्टिसे जीव उत्पन्न हुए, तब सब जीव एक ही जैसे स्वभावके होंगे, होने चाहिये थे। तब उसके सामने तीसरा प्रश्न उठा कि फिर इनमें विषमता क्यों? इनमें वर्ग-कलह क्यों? इनके सुख-दुःख सम-समान ही होने चाहिये। ये सब एक-जैसे होने चाहिये। तब उस समयमें यूरोपके मनुष्य-समाजकी दशाको देखकर मार्क्सने कुछ नये सिद्धान्त निकाले, जिनका यूरोपपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक तो उसने देखा कि कुछ लोग तो मौज कर रहे हैं, कुछ दलित हो रहे हैं—पूँजीपति गरीबोंके परिश्रमसे लाभ उठा रहे हैं और मजदूरोंको उनके परिश्रमके अनुरूप लाभ नहीं मिल रहा है। तब उसने नारा लगाया—'वर्कर्स ऑफ दी वर्ल्ड, युनाइट।' Workers of the world, unite संसारके काम करनेवाले मजदूरो! मिल जाओ और इस विषमताका प्रतीकार करो।

वर्गकलहका कारण

यह सृष्टि कब बनी, कैसे बनी, पता नहीं। पाश्चात्त्य इतिहास मनुष्यकालको चार-पाँच सहस्र वर्षसे अधिक कालका नहीं मानता।

वर्गकलह और विषमताका कारण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ये भौतिकवादी इस सिद्धान्तपर पहुँचे कि जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब वह जंगली दशामें था। उसकी आवश्यकताओंको निभानेके लिये—पूरी करनेके लिये निसर्ग अर्थात् सृष्टिमें पूरे साधन थे।

उस समय

सब मनुष्य एक-से थे—उनमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं थी। उस समयके मनुष्य-समुदायमें भेद भी नहीं थे—इसलिये उस दशामें किसी प्रकारका वर्गकलह नहीं था। इस अवस्थाको—सम-समान अवस्थाको कार्लने 'प्रिमिटिव कम्यूनिज्म' मूल साम्यवाद कहा है। पहिले स्त्री-पुरुष सब सम-समान ही थे। अवस्था यह थी सब स्त्रियाँ पुरुषोंकी स्त्रियाँ और सब पुरुष सब स्त्रियोंके पति थे, प्रत्येक स्त्री पुरुषकी स्त्री यह समाज-व्यवस्था थी।

धीरे-धीरे इस व्यवस्थामें फरक पड़ने लगा—(१) वह फरक यह कि बाबा, बाप, लड़का और पोता इनको अनुक्रमसे दादी, माँ, लड़की और पोतीसे परस्पर लैङ्गिक सम्बन्ध मना कर दिया गया। ऐसी कुटुम्ब-रचनाको 'कानसनगाईन फैमिली' कहने लगे।

(२) इसके पश्चात् भाई और बहनके परस्पर विवाह बंद किये गये। इस प्रकारकी कुटुम्ब-रचनाको 'पुनालम फैमिली' कहने लगे। इस प्रकार स्त्रियोंकी दशा बिगड़ने लगी और समाजमें उनका दर्जा कम माना जाने लगा।

(३) उसके पश्चात् 'पेअरिंग फैमिली' नामकी कुटुम्ब-रचना हुई। इस व्यवस्थामें एक पुरुष एक ही स्त्रीसे सम्बन्ध रख सकता था किंतु इनको परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी छुट्टी थी। यह भी छुट्टी थी कि पुरुष चाहे जितनी स्त्रियोंसे सम्बन्ध रक्खे। स्त्रीको एकसे अधिक पुरुषसे सम्बन्ध रखनेकी मनाही थी।

(४) इसके पश्चात् 'मानोगैमियन फैमिली' नामक कुटुम्ब-रचना चली। इसमें एक पुरुषका एक ही स्त्रीसे विवाहसे सम्बन्ध रहता था। किंतु पुरुषको अन्य स्त्रियोंसे लैङ्गिक सम्बन्ध रखनेकी छूट थी। बस, इन कार्लके अनुयायियोंके मतमें तभीसे स्त्री पुरुषकी गुलाम हुई, पुरुष स्त्रीका मालिक बन गया और वर्गकलह चल पड़ा।

इसी अवसरपर उस समयकी समाज-रचना धीरे-धीरे बदलती गयी।

मनुष्य-समाज उत्पादनके साधन तैयार करनेमें संलग्न हुआ—अर्थात् मनुष्य-समाज जङ्गली दशासे सभ्य दशामें आया। तबसे व्यवहारका, आदान-प्रदानका साधन पैसा बना।

पर बात यह हुई कि इनमेंसे कुछ मनुष्य उत्पादनके साधनों-पर अधिकार जमा बैठे और अन्य मनुष्योंको अपना दास बनाने लगे।

बस, यहींसे दो वर्ग हुए

(१) उत्पादनोंके साधनोंपर कब्जा करके अन्योंके परिश्रमपर निर्वाह करनेवाला, जीवन-निर्वाह करनेवाला वर्ग।

(२) स्वतः अपने परिश्रमपर निर्वाह करनेवाला वर्ग।

इन दो वर्गोंमें संघर्ष चलता ही आया है, चलता ही रहा है।

पर धीरे-धीरे इस दूसरे वर्गकी स्थितिमें भी परिवर्तन होता गया। पहले-पहले स्वतन्त्र वर्गका गुलामवर्गपर अधिकार रहता है। फिर राजा-प्रजा साधनसम्पन्न बड़े संरजामवाले मालिक और दासकी बात चल पड़ती है। इनमें दास तो कुछ स्वतन्त्र रहता है और उसी अनुपातसे मालिकके अधिकारोंमें कुछ कमी होती है।

इसके पश्चात्‌की बात

तो यह है कि मालिक और मजदूर दो वर्ग बनते हैं। इसमें मजदूर स्वतन्त्र रहता है, पर उसके पास उत्पादनके साधन नहीं रहते; इसलिये वह अपने शारीरिक परिश्रमपर ही निर्भर रहता है। दूसरी ओर मालिक अपने अधिकारको जमाये रखनेके लिये नये-नये उत्पादनके साधन निर्माण करने लगता है। इस काममें उसको अधिक-से-अधिक मजदूरोंकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये मजदूरोंकी शक्ति भी बढ़ती जाती है।

फिर मजदूर लोग अपनी यूनियनें (संघ) अथवा ट्रेड यूनियनें (व्यापारिक संघ) बनाते हैं। इस तरहसे मजदूर शक्तिशाली बन जाता है। यों मजदूर प्रबल और मालिक धीरे-धीरे निर्बल पड़ता जाता है; क्योंकि मजदूर जबरदस्ती अपने संघोंके बलपर मालिकके उत्पादनों, मालिकके साधनोंपर कब्जा करता चला जाता है। शक्ति मालिकके हाथोंसे निकल-कर मजदूरोंके हाथोंमें जाने लगती है। यहाँतक कि मालिकोंके द्वारा बनायी हुई राज्यसंस्थाको उलटकर मजदूर अपनी राज्यसत्ता स्थापन करते हैं, करने लगते हैं। मजदूरकी बनायी हुई यह राज्यसंस्था मालिकोंसे अन्यायसे कमायी हुई सब सम्पत्ति उनसे छीनकर विस्तृत समाजमें बाँट देती है और मालिकके उत्पादन करने या बढ़ानेके सभी साधनोंका मालिक समाज बन जाता है।

इस तरह

सब मानव फिर समान अवस्थामें आते हैं और वर्ग-कलह मिटता है या मिटने लगता है—सम्पत्ति-उत्पादनके लिये आवश्यक समाज-रचना उत्पादनके छोटे-छोटे भाग होनेके कारण इतनी सादी बन जाती है कि कोई भी कोई कार्य कर सकता है। इस तरह प्रत्येक मानव कार्यक्षम-मानव। यह जिस तरह काम करता है, ऐसा दूसरा मानव भी उसी तरहका काम कर सकता है या नहीं—इस बातको देखेगा। और इस प्रकार परस्पर पड़ताल करनेकी आदत पड़ जानेसे इसीमेंसे एक इतनी बड़ी समाजरचना अथवा समाजयन्त्र

बनेगा कि किसी राज्य नामकी संस्थाकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और राज्यसंस्थाएँ ही मिट जायँगी। उसके बादका सब समाज वर्गविहीन हो जायगा। इस वर्गविहीन समाजका ध्येय रहेगा कि 'प्रत्येकसे उसकी क्षमताके अनुसार ग्रहण करके प्रत्येकको उसकी आवश्यकताओंके अनुसार देना—From each according to his ability to each according to his needs.

मालिक और मजदूरका संघर्ष चलता ही रहता है। मालिकके पास सम्पत्ति रहती है और मजदूरके पास श्रमशक्ति। जिनके पास सम्पत्ति रहती है, वे दूसरोंकी श्रमशक्तिपर जीते नहीं। दूसरोंको अपनी श्रमशक्तिपर जीना पड़ता है।

यह मालिक और मजदूरका भेद किन्हीं स्वाभाविक गुणोंपर निर्भर नहीं है। यह परिणामपर निर्भर है। इसलिये मजदूर भी मालिक बन सकता है और मालिक भी मजदूर हो सकता है।

यह है संक्षेपसे वर्गकलह मिटाने और वर्गविहीन समाजके निर्माणका उपाय कार्ल मार्क्सके अनुयायियोंके अनुसार।

हमें तो ऐसा होना मृगजलका-सा प्रतीत होता है।

इसके विपरीत मनुष्य-स्वभावपर दृष्टि डालकर बनाया हुआ वैदिक समाजवाद संसारको अधिक सुख-शान्ति दे सकेगा; क्योंकि वर्ग बनेंगे स्वभावानुसार। हमारे यहाँ समाज-रचना ही स्वभाव-शास्त्रानुसार बनी है और परस्पर आदान-प्रदानकी प्रथा प्रचलित रहनेसे एकके पास जो उत्पादनशक्ति होगी, उस शक्तिसे दूसरे भी लाभ उठायेंगे। जैसा कि वेदमें कहा गया है—

देहि मे ददामि ते।
नि मे देहि नि ते दधे॥
नीहारं च हरासि मे।
नीहारं निहराणि ते॥

'भ्रातः! तेरे पास जो कुछ है उसे तू मुझे भी देगा तो मेरे पास जो कुछ है और तेरे पास नहीं है, मैं भी तुझे दे दूँगा। क्या तू मेरे हिस्सेमेंसे लेना चाहता है? तो फिर तेरे हिस्सेमेंसे कुछ भाग मुझे भी देना पड़ेगा।'

ब्राह्मणवर्ग—ज्ञानप्रधान
क्षत्रियवर्ग—बलप्रधान
वैश्यवर्ग—उद्योग-धनप्रधान
शूद्रवर्ग—सेवा-शुश्रूषा-प्रधान

स्वभावशास्त्रानुसार सब शक्तियाँ सब वर्गोंके पास नहीं रहतीं, नहीं रह सकतीं—इसलिये एक वर्गकी शक्तिसे दूसरा वर्ग लाभ उठायेगा। आदान-प्रदान धर्मानुसार होता रहेगा। फिर किसी प्रकारका वर्ग-कलह क्यों रहेगा? सच पूछिये तो वर्गविहीन सम-समान समाज न बन सकता है और न रह सकता है। भौतिकवादी जो यह मानते हैं कि जीव जड सृष्टिसे वैसे ही उत्पन्न हुए हैं, यहीं भूलते हैं। इसीलिये वे प्रारम्भसे ही जीवोंको सम-समान समझते हैं। वे उन मनुष्योंका जंगलीपनसे सभ्यतामें आना ही विषमताका मूल समझते हैं, इसीलिये विषमताकी दुहाई देकर वे वर्गविहीन समाजके निर्माणके लिये भौतिक उपाय सोच रहे हैं!

हमारा धर्म मानता है कि एक चेतन सर्वस्रष्टा, सर्वद्रष्टा देव है, जिसके अभिध्यानसे यह विराट् जगत् बना। जीवात्मा भी अनादि अनन्त हैं, न जाने कबसे अनन्त वासनाओंसे भरे चले आये हैं। ये अपने कर्मानुसार फलोंको भुगतने और धीरे-धीरे, हो सके तो उस देव-दर्शनको प्राप्तकर मोक्षानन्द प्राप्त करनेके लिये आते हैं। जीवात्मा जड जगत्से नहीं टपके हैं। इसलिये अध्यात्मशून्य कोरा भौतिकवाद मानवधर्मके सच्चे कल्याणकी बात न तो सोच सकता है और न कह ही सकता है।

मानव चार-पाँच सहस्र वर्षका कोई जंगली जानवर नहीं है, जिसने धीरे-धीरे उन्नति की और एकदम सभ्य बन गया एवं सभ्यताके साथ ही विषमता फैली तथा वर्गकलह बढ़ गया।

जबसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है तभीसे मनुष्य है। वेद कहते हैं—

'ततो मनुष्या अजायन्त' पृथ्वी बनी और मनुष्य आया। जो सबसे प्रथम आये उनको ईश्वरीय ज्ञान मिला, फिर उन्हीं आदिऋषियोंकी परम्पराने उस ज्ञानकी परम्पराको आगे चलाया। हमारा वैदिक तत्त्वज्ञान यही बतलाता है।

हमारी समाजरचना

पुरुषसूक्तमें बतलायी गयी है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'

—इत्यादि।

इस वैदिक समाज-रचनामें अध्यात्म अर्थात् स्वभाव-शास्त्रके अनुसार अपने वर्णमें रहकर मनुष्य चरम सीमाकी उन्नति कर सकता है। नीचे वर्गसे ऊँचे वर्गमें जा सकता है। ऊँचे वर्गका, यदि अपने स्वाभाविक वर्ग अथवा वर्णको न सँभाल सके तो, नीचे सरक सकता है। फिर मार्क्सने मालिक

और मजदूर ये ही दो विभाग किये हैं । यह भी अस्वाभाविक है, असाध्य है, असम्भव है—केवल इन दो विभागोंसे संसार नहीं चल सकता । समाजको अन्य शक्तियोंकी भी आवश्यकता रहती है । जिनके बिना समाज समाज नहीं रह सकता—फिर वह समाज क्या हुआ—वह तो विनाश ही है । मार्क्स-सिद्धान्तने मालिक और मजदूरोंको सम-समान बनानेका यत्न किया; फिर भी अब भी मालिक भी हैं, मजदूर भी हैं । विषमता भी है और कोई सम-समानता नहीं बन सकती है ।*

श्रीराम-रणक्रीड़ा

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न)

तीन मुख अग्नि नैन तीसरेमें भ्राजमान
पाँच मुख आपु चारि मुखके कुमार हैं ।
सुत षटमुख गजमुख महामान्य दोऊ,
दसमुख दास औ सहसमुख हार हैं ॥
शशि सुललाट शशिमुखी शिवा गोद लसैं,
हिममुखी हैमवती गंगा जटाद्वार हैं ।
कपिमुख बरदा जु एक बरदायी सबै,
क्यों न सदा सुखी वन्दौं शंकर उदार हैं ॥

शास्त्रोंमें विधि-निषेधरूपमें जो बातें कही गयी हैं उनके उदाहरण श्रीरामचरित्रके (नायक-प्रतिनायकके) पात्रोंमें मिल जाते हैं । हिंदी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध स्व० श्रीप्रतापनारायणजी मिश्रका दोहा है—

ईश प्रथम जिन बेद रचि कीन्हे सद् उपदेश ।
करि दिखराई कृत्य पुनि तौन राम अवधेश ॥
मुखकी शोभा सद्वचन तनकी शोभा स्वेद ।
रामायण अरु बेदमें कहब करब मैं भेद ॥

अनेक निषिद्ध वस्तुओंमें अभिमान भी निषिद्धतम वस्तु है—

सकल सोक दायक अभिमाना ।

विश्वमें दैवी एवं आसुरी दो प्रकृतिके लोग हैं । दैवी साम्पत्तिक अर्थात् भगवत्-भागवतमें प्रेम रखनेवाले और आसुरी साम्पत्तिक अर्थात् भगवत्-भागवतमें द्वेष रखनेवाले दोनों तरहके लोगोंको अभिमान हो जाया करता है । उनमें यदि दैवी सम्पत्तिवालोंको अभिमान होता है तो उसे प्रायः भगवान स्वयं ही तोड़ते हैं जैसे श्रीनारदजीका काम-विजयजन्य अभिमान और आसुरी सम्पत्तिवालों—भगवद्भागवत-द्रोहियोंका अभिमान भक्तोंद्वारा ही भगवान् तुड़वाते हैं । सो भी प्रायः उन्हींसे जिनके प्रति अभिमान व्यक्त किया गया होता है । इसी (दूसरे तरह) का एक उदाहरण इस लेखमें दिया जा रहा है ।

'जिमि कोउ करै गरुड़ सैं खेला ।'
'रनक्रीड़ा लगि प्रभुहि बँधायो ।'
'जब रघुनाथ कीन्ह रनक्रीड़ा ।'

—आदिसे स्पष्ट कहा गया है कि लंकाकी लड़ाई श्रीरामजीकी रणक्रीड़ा थी—खेल थी । इसपर आपाततः शङ्का हो सकती है कि श्रीरामजीका अपना बँध जाना आदि तो खेल हो सकता है; परंतु मेघनादके नागपाशमें बँधकर सभी वानर-भालुओंके द्वारा बाणोंके दुःखका अनुभव करना, कुम्भकर्णके प्रथम युद्धमें श्रीहनुमान्‌जी, अंगद आदि तकका मूर्च्छित होना तो है ही, श्रीरामसखा सुग्रीव-कपीशका भी कुम्भकर्णकी काँखमें पीडा, मूर्च्छा एवं घोर अपमानरूप दुःखका अनुभव करना आदि-आदि कई बातोंका हो जाना कौन-सी क्रीड़ा है ? यह वही बात हुई कि—

चीरीको मरन खेल बालकन कोसो है ।
(हनुमानबाहुक)

ऐसे-ऐसे तर्कोंके समाधानके लिये युद्धकी अन्तिम भूमिका अर्थात् रावण-अंगद संवादान्तर्गत रावणकी गर्वोक्तियोंको देखना चाहिये । रावणने अपने छः पदार्थोंपर गर्व किया था—

१—भाईपर—
कुंभकरन सम बंधु मम ।
२—बेटेपर—
सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।
३—सिरोंपर—
जेहि निज कर सिर सुमन उतारी ।…………
४—बाहुओंपर—

* इस लेखमें हमने 'जीवनविकास' (नागपुर) के मार्चके विशेषाङ्कसे दो-चार उद्धरण लिये हैं ।

सठ बिलोकु मम बाहु ।'…

'बीस पयोधि अगाध अपारा ।

५–छातीपर—

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई ।
जिन्हके दसन कराल न फूटे ।
उर लागत मूलक इव टूटे ॥

६–पाँवपर—

जासु चलत डोलत इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥

अंगदके दलके छः महावीरोंको कहा । पहले रावणने कहा—

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद ।
मो सम भिरिहि कवन जोधा बद ॥
तव प्रभु नारि बिरहँ बल हीना ।
अनुज तासु दुख दुखित मलीना ॥

इसपर सम्भवतः अंगदको हँसी आ गयी हो कि 'मूर्ख ! जब वे मेरे प्रभु हैं तो दोनों भाई मेरे कटकके कैसे हुए ?' तुरंत ही सँभलकर रावण कहने लगा—

तुम सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ । बंधु हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा । सो कि होइ अब समरारूढ़ा ॥
सिल्प कर्म जानहिं नल नीला ॥

अर्थात् राजा सुग्रीव, युवराज तुम, प्रधानमन्त्री जाम्बवन्त, समरमन्त्री मेरा डरपोक भाई विभीषण, प्रधानसेनापति नल और नील कोई भी मुझसे सामना करके टिक नहीं सकते; तो फिर सामान्य वानरोंकी तो बात ही क्या ?

अंगदने देखा कि रावणने पहले हमारे छःको तुच्छ कहा, तत्पश्चात् अपने छःपर गर्व किया । अब यदि रावणके छहों गर्वोंको मैं ही तोड़ जाऊँगा तो रावण किंवा राक्षसोंकी दृष्टिमें मेरे राजा, प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति तो तुच्छ बने ही रहेंगे । विभीषणको चाहे जो समझते रहे परंतु जब कि श्रीरामकृपासे हमारे सभी सैनिक परम समर्थ हैं—

मर्दि गर्दि मिलवहिं दससीसा । ऐसे बचन कहहिं सब कीसा ॥
सो कपि एक न सेना माहीं । जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥
परम सुभट मीजहिं सब हाथा । आयसु पै न देहिं रघुनाथा ॥
रामकृपा अतुलित बल तिनहीं । त्रिन समान त्रय लोकहिं गिनहीं ॥

अतः वे वीरगण इसके अन्य घमंडोंको चूर करेंगे ही, मैं केवल इसके हाथ-पाँवका घमंड तोड़ दूँ, यही ठीक होगा । तब रावणसे बोले—

तैं निसिचरपति गरब बहूता । मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥

भाव यह कि निशिचरपति होते हुए भी तेरा गर्व, तेरे गर्वकी सामग्री तुच्छ है, इतनेपर तुझे गर्व नहीं करना चाहिये था । मैं तो श्रीरघुपतिके सेवकका दूत हूँ । रघुपतिके बलका तो अनुमान ही नहीं लग सकता और रघुपतिके सेवक (लक्ष्मणजी) के बलका संकेत तू जानता है, अपनी आँखों जनकपुरमें देख चुका है । रघुपतिके सेवक तो बहुत हैं पर सच्चा दावा करनेवालोंमें एकमात्र श्रीलक्ष्मणकुमार ही अन्यतम हैं ।

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह ।
आजु राम सेवक जस लेऊँ ॥
'जौ तेहि आजु बधे बिनु आवौं । तौ रघुपति सेवक न कहावौं ॥'

तेरे तो युद्धार्थ चलनेपर पृथ्वी डोलती है—

आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥
चलत दसानन डोलत धरनी ॥

और मैं जिनका दूत हूँ, उन रघुपति-सेवक श्रीलक्ष्मणजीके तो बोलनेमात्रसे समस्त ब्रह्माण्ड काँपता—डोल उठता है—

लखन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
समय लोक सब भूप डेराने ।
'समय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ।'

मैं तो उनका दूतमात्र हूँ, परंतु मेरे भुजामात्रसे तेरे हाथ-पाँवका गुरुगर्व खर्व हो जायगा । देख—

कटकटान कपि कुंजर भारी । दोउ भुज दंड तमकि महि मारी ॥
डोली धरनि सभासद खसे । चले भागि भय मारुत ग्रसे ॥
गिरत दसानन उठा सँभारी । भूतल परे मुकुट षट चारी ॥

रावणने चार बार श्रीरामजीको कुवाक्य कहा था—

१–तव प्रभु नारि बिरह बल हीना ।
२–ऐसे मनुज अनेक । खाहि निसाचर दिवस निसि ॥…
३–जो पै समर सुभट तव नाथा ।
४–अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास ॥

इसीसे अंगदने भूप-गुणरूप रावणके चार मुकुट छीन लिये।

रावणका गर्व गञ्जन करके जब अंगद लंकासे लौटे, तब श्रीरामजीके यह पूछनेपर कि—

रावन जातुधान कुल टीका । भुजबल अतुल जासु जग लीका ॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये । कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥

परंतु अंगदने किसी तरह अभिमान न व्यञ्जित हो, इसलिये अपने भुजा पटकनेकी बातको चतुरतासे उड़ाकर अन्य—

समाचार सब तब कहे गढ़ के बालिकुमार ।

—उन समाचारोंमें रावणके अपने भाई, अपने बेटा, अपने सिर, बाहु और छातीके गर्वकी बात और रावणद्वारा वानराधीश सुग्रीव, प्रधान मन्त्री जाम्बवन्त, समरमन्त्री विभीषण और प्रधान सेनापति नल-नीलके अपमान (तुच्छ मानने) की बात भी बतायी । इसीसे श्रीरामजीने समय-समयपर सदलबल मूर्च्छित बनकर रावणद्वारा अपमानित वीरोंद्वारा ही रावणका गर्व चूर-चूर करवा दिया । जिसका संकेत हमें मानसमें इस तरह मिलता है कि कुम्भकर्णकी पहली लड़ाईमें महावीर अंगद, हनुमान् आदि सभी वानर वीर बहुत देरतक कुम्भकर्णकी मारसे मूर्छित पड़े थे । जब वालीद्वारा अपमानित रावणका बदला पूरा करनेके लिये अर्थात् कुम्भकर्णके बड़े भाईको सुग्रीवके बड़े भाई वालीने काँखमें दाब लिया, तब रावणके छोटे भाईने वालीके छोटे भाईको काँखमें दाबकर उसका बदला ले लिया, यह दिखानेके लिये कुम्भकर्णने मूर्छित सुग्रीवको काँखमें दाबकर लंका-प्रस्थान किया । रास्तेमें जब वानराधीशकी मूर्च्छा भंग हुई, तब उन्होंने कुम्भकर्णकी भावनाका अनुमान करके सोचा कि यदि मेरी चैतन्यताका भान कुम्भकर्णको हुआ और इसने जोरसे दाब दिया तो शायद अभी ही 'राम नाम सत्य है' ही हो जाय, अतः मृतकका स्वाँग कर लिया और विचारा कि इसका प्रतिशोध कैसे लूँ । सोचा कि श्रीरामजीने मुझे—

'तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।'

—कहकर मेरा स्थान लक्ष्मणजीसे ऊँचा निर्धारित किया है; क्योंकि भरतजी तो लक्ष्मणजीसे बड़े भाई हैं । और लक्ष्मणसे अधिक तो मेरे कर्मचारी (मन्त्री) हनूमानको कहा था—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।

तो यदि मैं लक्ष्मणजीसे अधिक पुरुषार्थ प्रदर्शन कर सकूँ तभी मेरा गुण-गौरव सुरक्षित रह सकता है । सोचते-सोचते विचारमें आया कि लक्ष्मणजीने तो स्त्री-जाति अबला कहानेवाली रावणकी बहिनकी नासिका एवं कान काट लिया था तो मैं परम प्रबल एवं—

'कुंभकरन सम बंधु मम० ।'

—कहकर व्यक्त किये गये रावणके मूर्तिमान् अभिमानके नाक-कान काट लूँ । ऐसा निश्चय करके जब मृतकका स्वाँग किया, तबकुम्भकर्णने सोचा कि मुर्दा सुग्रीवको लंका ले जानेपर रावण कह सकता है कि वालीने तो मुझ जीवितको काँखमें दाब रक्खा था, पर तू तो मुर्दा सुग्रीवको लाया, भला यह कौन पराक्रम या बदला है ? इसीसे कुम्भकर्णने दबाव ढीला कर दिया—

'निबुकि गयो तेहि मृतक प्रतीती ।'

—तब सुग्रीवने अपना पाँव कुम्भकर्णकी छातीपर अड़ाकर दोनों हाथोंके नखोंसे उसके दोनों कान और दाँतोंसे नाक एक साथ ही तीनों काट लिया—

'काटेसि दसन नासिका काना ।'

लंकासे चलते समय कुम्भकर्णने बहुत शराब पी ली थी—

रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक ।

महिष खाइ करि मदिरा पाना ।

उस शराबने अब नशा किया, इसीसे नाक-कानका कट जाना उसे मालूम न हो सका । (सच है शराबीको अपनी नाक कटने—यश-प्रतिष्ठा-नाश होनेका पता नहीं चलता । गाँजा, भाँग, अफीम, चरस आदि सभी मदका एक ही फल—नाक कटाना—यश-प्रतिष्ठा एवं स्वास्थ्यका नाश ही है । अस्तु)

'गर्जि अकास चलउ तब जाना ।'

सुग्रीवकी भीषण गर्जनापर जब नशा टूटा, तब नाक-कानका कट जाना जान पाया—

नाक कान काटे जिय जानी ।

विचारणीय बात है कि किसी वानर वीरके सशक्त-चैतन्य रहते कोई भी शत्रु वानराधीश सुग्रीवको नहीं ही ले जा सकता था । इसीसे सर्वजगत्-विमोहिनी श्रीहरिमायाने भगवत्क्रीडार्थ ऐसा किया कि मेघनाद एवं रावणके भी प्रहारसे न गिरनेवाले पवननन्दन भी कुम्भकर्णके प्रहारसे गिर गये और देरतक बेहोश रहे—

पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता । घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥

बहुत देरमें—

मुर्छा गइ मारुतसुत जागे ।

इसमें एकमात्र कारण श्रीरघुनाथजीकी रणक्रीड़ा ही है । जिससे रावणद्वारा कुलद्रुम अति तुच्छ गिने गये सुग्रीवसे रावणके मूर्तिमान् अभिमान—

'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार० ।

(विनयपत्रिका)

—के नाक-कान कटवा डालना था ।

भाई कुम्भकर्णके बाद रावणका गर्वगढ़ मेघनाद था—

'सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।'

जब रावण निराश हो गया और—

बहु बिलाप दसकंधर करई।

उसी समय मेघनादने पहले तो—

कहि बहु कथा पिता समुझाएउ।

और रावणके विलाप करना बंद करनेपर—कुछ शान्त होनेपर कहा—

देखेहु काल्हि मोरि मनुसाई।
अबहिं बहुत का करौं बड़ाई॥
इष्टदेव सन बल रथ पायउँ।
सो बल तात न तुम्हहिं देखायउँ॥

—आदि गर्वोक्तियोंसे रावणको धैर्य दिया। प्रातः होते ही अपने मायामय—वैज्ञानिक रथ—अलक्ष्य वायुयानपर चढ़कर ऊपर आकाशसे समस्त श्रीरामदलको नागपाशमें बाँधकर सबको मूर्च्छित कर दिया, परंतु सबसे दीर्घायु (अति बूढ़) अथ च रावणकी दृष्टिमें अत्यन्त निर्बल समरके अयोग्य महामन्त्री जाम्बवन्तको न मूर्छित कर सका, न बाँध ही सका। इसमें भी श्रीरामजीकी रणक्रीड़ा ही है अर्थात् दलका कोई भी वानर-भालु यदि शक्तिसम्पन्न होशमें रहता तो अपने महामान्य मन्त्री जाम्बवन्तजीके पास दुर्वृत्त मेघनादको किसी भी तरह जाने न देता। इसीसे श्रीरामजीकी भुवनविमोहिनी लीलाशक्तिने समस्त सैनिकोंको मूर्च्छामें डलवा दिया कि जिससे अंगदीय कटकके अति बूढ़ेके द्वारा—

भट महँ प्रथम लीक जग जासू।
जेहि न होइ रन सनमुख कोई॥

ऐसे प्रसिद्ध शक्रारिरूप रावणके गर्वगढ़के शिखरको तोड़नेके लिये जाम्बवंतको नागपाशके वशमें न होने दिया। जाम्बवंतके ललकारनेपर मेघनाद बात बनाने लगा कि भरी सभामें मेरे पिताजी—रावणने तुम्हें अति बूढ़—

'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।'

—कहा था। इसीसे मैंने भी—

बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोही।

मेघनादने सोचा कि ब्रह्माके दिये नागपाशसे ब्रह्माके अंशावतार होनेसे जाम्बवन्त नहीं बँध सका तो अब शङ्करके अस्त्रसे इसे मार ही डालूँ। इसीलिये—

अस कहि तरल त्रिसूल चलावा।

परंतु जाम्बवन्तने बीचसे वही त्रिशूल लेकर उसीसे मेघनादकी छातीमें मारकर उसे भूमिसात् कर दिया, परंतु उस प्रहार-से महाप्राण मेघनाद मूर्च्छित नहीं हुआ, घूर्मित-चक्कर खाकर केवल गिर गया। मूर्छित हो जाता तो यह न कहा जाता कि—

महि पछारि निज बल दिखरायो।

मूर्छितको बल कैसे दिखलाते, अतः वह केवल गिरा था और गिरते ही जैसे उठने लगा वैसे तुरंत ही अति बूढ़े जाम्बवन्तने अति तरुण एवं प्रसिद्ध शक्रारि मेघनादको—

महि पछारि निज बल दिखरायो।

मेघनादने कहा था—

बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोहीं।

इससे बल दिखला दिया। और रावणने कहा था कि—

जामवन्त मन्त्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥

इससे जाम्बवन्तने घुमा-घुमाकर मेघनादको—रावणके गर्वगढ़को मूर्छित करके उसका शिखर तोड़कर बड़ी दूर समर-भूमिसे ही रावणके सामने किलेमें फेंक दिया—

'पुनि पद गहि लंका पर डारा।'

और कई घंटेपर—श्रीरामदलके स्वस्थ हो जानेके बाद जब—

मेघनाद कै मूर्छा जागी।

—तो अति बूढ़े जाम्बवन्तने प्रसिद्ध शक्रारिको पददलित कर दिया। मूर्च्छित करके यहाँ फेंक दिया, इससे—

पितहि बिलोकि लाज अति लागी।

अतः नागपाशवश होनेका अनेक क्रीड़ात्मक कारणोंमें अति बूढ़ा और प्रसिद्ध शक्रारि केवल परीक्षाद्वारा रावणका सुत-गर्वगञ्जन भी एक प्रबल कारण माना जा सकता है।

रावणने नल-नीलको—

सिल्प कर्म जानहिं नलनीला।

—कहकर हँसी उड़ायी थी। जो कि समस्त वानरी सैन्यके प्रधान सेनापति हैं। इनके सम्बन्धमें महर्षि वाल्मीकिजीने अपने रामायणके युद्धकाण्डीय सर्ग छब्बीसमें लिखा है—

एष योऽभिमुखो लङ्कां नर्दंस्तिष्ठति वानरः॥
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः।
यस्य घोषेण महता सप्राकारा सतोरणा॥
लङ्का प्रवेपते सर्वा सशैलवनकानना।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥
बलाग्रे तिष्ठते वीरो नीलो नामैष यूथपः।

(११—१४)

× × × ×

बहूनि वानरेन्द्राणामेष यूथानि वीर्यवान् ।
परिगृह्याभियाति त्वां स्वेनानीकेन दुर्जयः ॥
अनु वालिसुतस्यापि बलेन महता वृतः ।
वीरस्तिष्ठति संग्रामे सेतुहेतुरयं नलः ॥
(२०—२१)

मानसके क्षेपकवालोंने भी लिखा है कि—

पदुम अठारह कपि कटक चल इनकी भुज छाँह ।
निज कर सुरभी सुमन लै रघुपति पूजी बाँह ॥

उन्हीं महावीर नल-नीलने समराङ्गणमें रावणको अपना शिल्पकर्म-कौशल्य दिखानेके लिये उसके सिरोंपर चढ़कर सारे मस्तकोंको फाड़ दिया और बल दिखानेके लिये उसकी भुजाओंको मरोड़ दिया—

तब नल नील सिरनि चढ़ि गयऊ। नखन लिलार बिदारत भयऊ॥

× × × ×

महि पटकत भजे भुजा मरोरी ।

रावणने बड़े गर्वसे सिर और भुजाकी बात अंगदसे कई बार कही थी। अंगदने भूमिपर भुजा पटक रावणके भुजबलको तुच्छ तो कर ही दिया था । नल-नीलने उसके सिरोंको फाड़कर सिरका घमंड तोड़ दिया और भुजाओंको मरोड़कर मानो बीसों अगाध पयोधिको सोख ही लिया ।

रावणने अपनी छातीका गर्व व्यक्त करते हुए कहा था—

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई । जब जब भिरेउँ जाइ बरिआई ॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥

और श्रीराम-कृपाश्रित विभीषणको 'अति भीरु' कहा था । इसीसे श्रीरामजीने रणाङ्गणमें खेल किया—

प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई ।

अर्थात् जब अंगद-हनुमदादि सभी रावणके जाने-माने सुपरिचित वीरगण श्रीरामजीसे दूर थे, पासमें केवल विभीषण थे, तब श्रीरामजीने रावणकी छातीका गर्व गलित करनेके लिये रावणप्रहारित शक्तिसे मूर्च्छा स्वीकार करनेकी क्रीड़ा की और विभीषणको अवसर दिया । तब विभीषणने—

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे ।

—आदि गाली देते हुए रावणकी दिग्गजदन्तदारिणी छातीपर गदा मार उसके दसों मुखोंसे रक्तकी धार बहाकर अंगदके—

असि रिसि होति दसौं मुख तोरौं ॥

इस कथनकी कुछ पूर्ति कर दी । यही नहीं, अपितु जिसे अति भीरु-मान लिया था वही विभीषण अत्यन्त भयङ्कर रावणानुज अब अतिबलयुक्त होकर रावणसे मल्लयुद्ध (कुश्ती) लड़ने लगे । इस युद्धमें रावणकी छातीका गर्व टूटा और विभीषणको अति भीरु कहनेका मजा रावणको मिल गया अर्थात् विभीषणके एक ही प्रहारसे उसके दसों मुखोंसे रक्तकी धार बह चली । अस्तु ।

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीकी रणक्रीड़ाके दिग्दर्शनमें श्रीरामजीका खर्व निशाचरके नागपाशमें बँध जाना, रावण-प्रहारित शक्तिसे मूर्च्छित हो जाना, कुम्भकर्णके एक मुष्टिकमात्रसे हनूमान्‌जीके देरतक मूर्च्छित रहने आदिका कुछ रहस्य अवगत हो जाता है ।

भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं

भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं । मेरे मनमें भगवान्‌के मनका अवतरण हो गया है । मेरा मन उनके मनका यन्त्रमात्र है । भगवान् अब अपने ही कार्यके लिये मेरे मनका उपयोग करते हैं । वे यन्त्री हैं । यह उनका यन्त्र है । इसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक स्फुरणा उन्हींकी चेष्टा-स्फुरणा है । इसीसे इस मनमें अब दुर्भाव नहीं आता, इसीसे इस मनके द्वारा असत् चिन्तन नहीं होता, इसीसे इस मनमें अब किसीके प्रति राग-द्वेषका भाव नहीं आता, इसीसे इस मनके द्वारा सब भगवत्कार्य ही होते हैं । इसीसे यह मन अब मेरा मन नहीं रहनेके कारण मेरा कोई भी काम नहीं करता । भले ही करता दिखता है मेरा, पर वस्तुतः करता ही उनका ही । क्योंकि मेरा अब यह रहा ही नहीं, उनका यन्त्र बनकर उन्हींके रूपको प्राप्त हो गया । भगवान् इसमें आकर विराज गये हैं और इसे तद्रूप बना लिया है भगवान्‌ने ।

भजन और भोजन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

वृन्दावन गये थे हमलोग—मैं और मेरे एक मित्र। संयोगकी बात है, हमने वहाँ पानीघाटपर ठहरना निश्चित किया। पानीघाट वृन्दावनका श्मशान; किंतु नगरके किसी दूसरे भागसे वह मुझे मनोहर लगा। श्मशान तो दूर है। यमुनाका प्रवाह पर्याप्त दूर चला गया है। वर्षामें भले इस हरियालीके बीच श्मशान रहता हो, इस समय तो वह पौन मील आगे रेतमें है। जलती चिताका धुआँ अवश्य दीख जाता है यहाँसे।

सघन वृक्षावलीके मध्य जहाँ-तहाँ साधुओंकी कुटियाँ—कुछ फूसकी और कुछ ईंट-चूनेकी भी। जहाँ बाबाजी रहेंगे, ठाकुर-पूजाके लिये फूल-तुलसी भी लगी मिलेगी ही। इस मनोरम वातावरणमें सामनेका सुविस्तृत पुलिन और सुन्दर प्रतीत होता था। यही कारण था कि शहरसे इतनी दूर हम यहाँ ठहरे।

हम जिन बाबाजीकी कुटीपर ठहरे थे, वे अच्छे चिकित्सक माने जाते हैं। आयुर्वेदके विद्वान् हैं। प्रायः उनके यहाँ खरलमें दवा घुटती रहती है, जड़ियाँ कूटी जाती रहती हैं और पुटपाकका क्रम भी चलता ही है।

बाबाजीमें मुझे एक गौरवमयी मानवता मिली और सबसे बड़ा आकर्षण यही था जो मुझे उनतक खींच लाया था। वे रोटी और औषधके उदार दाता थे। रोगी आते थे, उन्हें नाड़ी देखकर वे औषध दे देते थे—बिना मूल्य औषध। अमीर-गरीब, ब्राह्मण-हरिजन, हिंदू-मुसलमानका भेद बाबाजी रोगीमें नहीं करते थे। उन्हें किसीकी नाड़ी देखनेमें हिचक नहीं थी। यह दूसरी बात है कि वे बीमारोंका देखना जब समाप्त कर चुकते, तब स्नान करते और तभी उनकी ठाकुर-पूजा होती।

बीमारको जो भी औषध आवश्यक है, वह कितनी मूल्यवान् है, यह वे सोचते तक नहीं थे। लेकिन मैं भूल रहा हूँ, औषधका एक मूल्य वे प्रायः लिया करते थे। जो शरीरसे पुष्ट और श्रम करने योग्य ग्रामीण आते थे, उन्हें वे लगा देते थे दवा कूटने या घोंटनेमें—घंटे आध घंटे उन्हें यह श्रमदान करना पड़ता था।

'रोगी आर्त है। वह धनी हो या दरिद्र, जब मेरे पास आता है, पीड़ित होता है। उससे कुछ भी लेना मुझे मानवताका अपमान लगता है।' बाबाजीका नियम माना जाय तो आजके सब चिकित्सक उपवास करने लगें; किंतु कोई औषध लेकर रुपया निकालता तो वे अप्रसन्न हो उठते। उसे खरी-खोटी सुनाते। रोग दूर हो जानेपर जिसकी जो इच्छा हो उनके यहाँ 'ठाकुर-सेवा'के लिये समर्पित कर आवे।

ठाकुर-सेवाके लिये इस प्रकार इतना अवश्य आ जाता था कि उससे साधु-सेवा चलती थी कुटियापर, और औषध-निर्माण भी चलता रहता था। किसीसे बाबाजीने कभी याचना की हो, ऐसा सुना नहीं गया।

औषधके समान ही प्रतिबन्धहीन वितरण था बाबाजीके यहाँ भोजनका। अवश्य उनके यहाँ दस-पाँच साधु टिके रहते थे और वे ही भोजन बनाते थे। साधुओंके टिक्कर ही बनते थे वहाँ; किंतु दोपहरमें जब ठाकुरजीको भोग लगाया जा चुकता, दो-तीन साधु पूरे ऊँचे स्वरसे पुकारते 'पंगतकी सीताराम!' जिसकी इच्छा हो, वह उस समय वहाँ भोजन करने आ बैठे।

गृहस्थ भी आते थे। कभी कोई भिखारी भी आ जाता था। अवश्य ही पंगतसे पृथक् ऐसे लोगोंको बैठना पड़ता था; किंतु भोजनमें कोई वैषम्य नहीं होता था। अभ्यागतको सम्मानपूर्वक वे तृप्त करते थे।

'एक अधम प्राणी धाममें आकर पड़ गया है।' अपने सम्बन्धमें प्रायः वे कहते थे—'द्वारपर आकर पड़ जानेकी लाज व्रजराजकुमार कर लेंगे, इतनी ही आशा है। साधन-भजन कहाँ होता है अपनेसे।'

'आप भजन किसे कहते हैं?' मैंने पूछा था।

'भजन है सेवा—तन-मन-सर्वस्व जब सेवामें समर्पित हो जाय, तब समझो कि भजन बना।'

'यह श्रीविग्रहका पूजन, नाम-जप, कीर्तन-कथा?' मैं उनके पास ही बैठा था और इस समय कोई रोगी नहीं था उनके सम्मुख; अतः उनसे कुछ जान लेनेकी इच्छा हो आयी थी।

'सत्स्वरूप भगवान्‌का संग ही सत्संग है न ?' प्रश्नके बदले प्रश्न कर दिया उन्होंने ।

'लगता तो ऐसा ही है ।' मुझे स्वीकार करना पड़ा ।

'तुम इस समयकी इस चर्चाको भी तो सत्संग ही कहोगे ?'

'इसलिये कि यह उस वास्तविक सत्संगका साधन है। इससे वह प्राप्त होता या हो सकता है ।'

'तब जो भजनका साधन है, उसे भजन कहना क्या ठीक नहीं है ?' उन्होंने मेरी ओर देखा ।

'ठीक तो है, किंतु······ ।'

'किंतु-परंतु कुछ नहीं । मानव-स्वभाव है कि वह अपनी दुर्बलता स्वीकार नहीं करना चाहता । उसके लिये वह बहाने ढूँढ़ता है ।' और उन्होंने एक श्लोकका भाव सुना दिया अपने ढंगसे—'यह विश्वरूपमें वही लीलाविहारी तो सामने हैं । इनकी उपेक्षा-अवमानना करके मैं जो यह कुटियामें कुछ मिनट बैठ जाता हूँ—भजनकी विडम्बना ही तो है, वहाँ मन पता नहीं कहाँ-कहाँ भटकता रहता है । अंगुलियाँ मालाके दानोंपर घूमें अथवा चन्दन-तुलसी-पुष्प चढ़ावें श्रीविग्रहपर, इस जड़ देहकी क्रियाको तुम भजन कहोगे ?'

'तब यह भजन नहीं है ?' मैंने कुछ सशंक होकर पूछा ।

'है तो सही !' वे तनिक हँसे—'यह देहकी क्रिया भी भजन है; क्योंकि भजनकी यह विडम्बना भी भजनके कुछ-न-कुछ समीप तो ले ही जाती है ।'

हमारी चर्चा अधूरी रह गयी; क्योंकि उसी समय 'पंगतकी सीताराम'की पुकार एक साधुने कर दी । मैं भी उनके साथ ही उठा; क्योंकि आज हम दोनोंको यहीं भगवत्-प्रसाद ग्रहण करना था ।

साधुओंकी पंगतके साथ ही हमलोग भी एक किनारे बैठे । दो लंबी पंक्तियाँ और दोनोंको मिलाती एक छोटी पंक्ति । जो दिशा रिक्त थी, उधर रसोई घर था । भोजन परसा जा चुका था और हमने प्रारम्भ भी कर दिया था कि किसी ओरसे एक बिल्ली कूदकर हम सबके बीचमें आ गयी ।

बड़ी-सी मोटी बिंदीदार देशी बिल्ली थी, किंतु लगता था कि वह अवश्य पालतू होगी; क्योंकि उसे कोई भय नहीं लगा इतने मनुष्योंसे । 'म्याऊँ'—उसने आते ही अपनी माँग प्रारम्भ कर दी । कभी एक ओर मुख करती और कभी दूसरी ओर ।

'हुँ' एक साधुने बायाँ हाथ हिलाया और डाँटनेका प्रयत्न किया ।

'म्याऊँ' बिल्ली तनिक उनके पाससे पीछे हटी और अपनी माँग उसने दुहराना बंद नहीं किया ।

साधुओंमें कोई बिल्लीको भोजन करते समय छू सकता नहीं था और वैष्णवोंकी पंगतके बीच यह हिंसक प्राणी बैठा रहे, यह उन्हें सह्य नहीं था । कई साधु उस छोटे-से जीवको डराकर भगा देनेकी चेष्टा करने लगे; किंतु बिल्ली क्यों हटने लगी । उसके भी पेट है, उस पेटमें भी भूख लगी है और जब भोजन सामने है, उसे क्यों नहीं मिलना चाहिये ।

एक कठिनाई और थी । बिल्ली कूदकर सबके बीचमें आ तो गयी थी; किंतु उसे कोई कंकड़ या डंडा मारकर भगा दे तो पता नहीं वह किस ओरसे भागे । कहीं कोई साधु उसकी भाग-दौड़में उससे छू गया तो पूरी पंगत भले भूखी न उठ जाय, वह तो भूखा उठ ही जायगा ।

साधु इधर-उधर देखते थे, बिल्लीको डाँटते थे और उसे भगा देनेकी युक्ति चाहते थे । मैं देख रहा था कि जिनकी यह कुटी है, वे बार-बार कुछ संकेत कर रहे थे। भोजनके समय वे मौन रहते हैं और उनका संकेत कोई समझ नहीं रहा था । अन्ततः उन्होंने जलसे आचमन किया ।

'एक पत्तल लगा लाओ ।' आचमन करके उन्होंने परसनेवालेको आदेश दिया । पत्तल आयी और बिल्लीके सामने रख दी गयी ।

'आप प्रसाद ग्रहण करें !' किसीने आग्रह किया ।

'आप करें—मैं तृप्त हो गया ।' तनिक रुककर बोले—'मैं बैठा ही हूँ—आवश्यकता होगी तो प्रसाद ले लूँगा ?'

'प्रसाद जूठा नहीं छोड़ा जाता !' एक ओरसे यह शब्द आया ।

'ऐसा तो नहीं है !' उन्होंने कहा—'कुछ प्राणी 'सीथ'के अधिकारी होते हैं । उनको भी कभी-कभी समय मिलना चाहिये ।'

बात यह थी कि वे रात-दिनमें एक ही समय भोजन करते थे और मौन-भंग हो जानेके बाद अब भोजन करना उनके लिये नियम-भंग था । कठिनाईसे कुछ ग्रास वे आज

ग्रहण कर सके थे। लेकिन उन्होंने ढंग ऐसा बना लिया, जैसे बिल्ली भोजन करके तृप्त हो जाय तो वे प्रारम्भ करेंगे। इसका फल यह हुआ कि दूसरे लोगोंने भोजन स्थगित नहीं किया।

सबके साथ ही वे उठे। अपना पत्तल स्वयं उन्होंने उठाया और जो कुत्ते कुछ दूर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें दे दिया। सबको ही उनके भूखे रहनेका बहुत दुःख था। बिल्ली तो अपना पेट भरकर जा चुकी थी।

'आपने आज भोजन किया ही नहीं।' विश्रामके लिये जब वे लेटे, मैं उनके समीप जा बैठा।

'किंतु आज नटनागरने कृपा की। आज उन्होंने मुझसे भजन कराया!' गद्गदकण्ठ वे बोले—'उनकी कृपाके बिना भजन बनता कहाँ है।'

'कोई विशेष भजनसे तात्पर्य है आपका?' मैं कुछ समझ नहीं सका था कि वे कहना क्या चाहते हैं।

'उस भूखी बिल्लीके रूपमें मुझसे अन्न माँगने वही विश्वरूप नहीं आये थे, यह तुम कह सकते हो?' अब भी कण्ठ भरा था उनका—'उन्होंने कृपा की—अन्यथा मुझमें भी उपेक्षा ही जाग्रत् होनी स्वाभाविक थी। भोजन तो प्रतिदिन करता हूँ। दूसरा भी जो कुछ करता हूँ—'भोजनके लिये ही तो है वह। भजन तो आज इतना-सा हुआ!'

उन्हें प्रणिपात कर लिया मैंने।

पुराण और कहावतें

(लेखक—डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतवर्षकी व्यावहारिक और दार्शनिक जीवन-पद्धतिको प्रभावित करनेमें पुराणोंका बहुत-कुछ हाथ रहा है। पुराणोंका नीति-साहित्य बहुत व्यापक और विशाल है। जीवनके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सूक्तियाँ उनमें उपलब्ध हैं। बहुत-सी सूक्तियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें हम मानवताके नैतिक कोड (कानून-संग्रह)-के नामसे अभिहित कर सकते हैं। इस देशमें प्राचीन कालसे ही सुभाषितों और सूक्तियोंको बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। विष्णुपुराणसे पता चलता है कि प्रह्लादको पहले-पहल सुभाषितोंकी ही शिक्षा दी गयी थी।

सुभाषितोंके साथ-साथ ऐसी उक्तियोंका भी पुराणोंमें अभाव नहीं है, जो कहावतोंकी भाँति प्रचलित हैं। उदाहरणके लिये निम्नलिखित उक्तियोंको लीजिये—

१. **'सतां साप्तपदं मैत्रम्'**

(स्कन्द० प्रभासखण्ड। ३९ ॥)

अर्थात् सात कदम साथ चलनेसे सज्जनोंमें परस्पर मित्रता हो जाती है।

२. **सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥**

अर्थात् जो पेड़ सीधे होते हैं, वे काट दिये जाते हैं और जो बाँके—टेढ़े होते हैं, वे खड़े रहते हैं।

३. **दैवं हि दुरतिक्रमम्।**

(पद्म० सर्ग खण्ड अ० २२। ७)

४. **आपत्काले नृणां नूनं मरणं नैव लभ्यते।**

(स्कन्द० ब्रह्मखण्ड, सेतुमाहात्म्य अ० ५। ११७)

५. **यथा कृतं तथा भुङ्क्ते।**

(पद्म० भूमिखण्ड अ० ८१। ४४)

६. **यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।**
तथा शुभाशुभं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥

(पद्म० भूमिखण्ड अ० ८१।४७)

७. **प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो**
देवोऽपि तं वारयितुं न शक्तः।
अतो न शोचामि न विस्मयो मे
ललाटरेखा न पुनः प्रयाति ॥

भाग्य और कर्म-सम्बन्धी उक्तियोंकी प्रचुरता समूचे भारतीय साहित्यमें देखनेको मिलती है।

८. **ज्येष्ठः पितृसमो भ्राता।**

अर्थात् बड़ा भाई पिताके समान होता है।

९. **उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः।**

(स्कन्द० प्रभासखण्ड अ० २२५। ३२)

अर्थात् जिसने पैरमें जूता पहन रक्खा है, उसकी दृष्टिमें समस्त पृथ्वी चमड़ेसे ढकी हुई है ।

१०. **सर्वस्य विद्यते प्रान्तो न वाञ्छायाः कथंचन ।**

(स्कन्द० नागरखण्ड अ० १८४।४०)

अर्थात् सबका प्रान्त होता है, लेकिन इच्छाका कोई प्रान्त नहीं होता ।

ऊपर जो दस उक्तियाँ दी गयी हैं, वे या तो प्राज्ञोक्तियोंके अन्तर्गत हैं या लोकोक्तियोंके ।

पुराणोंमें कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जिनकी समकक्ष लोकोक्तियाँ राजस्थानी भाषामें आज भी मिलती हैं । उदाहरणके लिये 'आहारे ब्योहारे लज्जा न कारे' । राजस्थानमें कहावतकी भाँति प्रचलित है । वास्तवमें यह किसी संस्कृत सूक्तिका ही लोकोच्चरित रूप है । इस आशयकी संस्कृत सूक्तियाँ पुराणोंमें मिलती हैं । जिनमेंसे दो यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

१. **स्त्रीसंगमे तथा गीते द्यूते व्याख्यानसंगमे ।**
व्यवहारे तथाऽऽहारे त्वर्थानां च समागमे ॥
आये व्यये तथा नित्यं त्यक्तलज्जस्तु वै भवेत् ॥

(लिङ्गपुराण, पूर्वभाग अ० ३५।६०-६१)

२. **आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ।**

पुरुषाणामलाभेन नारी चैव पतिव्रता अर्थात् पुरुषोंके न मिलनेपर नारी पतिव्रता कहलाती है । इसी प्रकार एक राजस्थानी लोकोक्तिमें कहा गया है—

'अण मिले कासै जती है' अर्थात् विषय-भोग न मिलनेपर ब्रह्मचर्य-पालन स्वयं हो जाता है ।

भागवत स्कन्ध ११ अ० २३ के श्लोकमें कहा गया है—

न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति ॥ मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥

निम्नलिखित राजस्थानी सूक्ति और कहावतमें भी यही बात प्रकारान्तरसे कही गयी है—

१. 'लोहतणी तलवार न लागै जीभ तणी तलवार जिसी' अर्थात् लोहकी बनी तलवारका प्रभाव भी उतना तीक्ष्ण नहीं होता, जितना जीभकी तलवारका होता है ।

२. 'घोड़ेकी लात, आदमीकी बात'में भी इसी भावकी अभिव्यक्ति हुई है—

पुराणोंसे कुछ कहावतोंके उदाहरण और दिये जा रहे हैं ।

१. महाजनो येन गतः स पन्थाः । २. काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते । ३. स्वस्थे चित्ते धातवः सम्भवन्ति (पृ० ५४) । ४. कण्टकेनैव कण्टकम् (पृ० ५६) । ५. श्वःकार्यमद्य कुर्वीत (पृ० ५२) (स्कन्द० नागरखण्ड अ. २६, १८।८) । ६. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् (पद्म० पातालखण्ड अ. ११०।१८) । ७. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य (शिवरुद्रसंहिता खण्ड ४. अ० २१९।५२) । ८. न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् (भागवत १० अ० ५०।२०) । ९. न हि चूडामणिः पादे शोभते वै कदाचन (पृ० ६३) । १०. षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः (पृ० ६५) । ११. तृणैरावेष्टिता रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते (पृ० ६५) । १२. अनायके न वस्तव्यम् (पृ० ६७) । १३. बालस्य रुदितं बलम् (पृ० ६६) । १४. पतनान्ताः समुच्छ्रयाः (पृ० ६६) । १५. मरणान्तं हि जीवितम् (पृ० ६६) । १६. स्थानस्थितानि पूज्यन्ते पूज्यन्ते च पदस्थिताः । स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखा नराः ॥ (पृ० ६७) १७. सरोजिनीगुणं वेत्ति भृङ्ग एव न दर्दुरः (पृ० २२) । १८. स रावणः कालवशाद् विनष्टः (पृ० ३७) । १९. वसिष्ठकृतलग्नाऽपि जानकी दुःखभाजनम् । (पृ० ३७) २०. न पितुः कर्मणा पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा । स्वयं कृतेन गच्छन्ति स्वयं बद्धाः स्वकर्मणा ॥ (पृ० ३७)

राजस्थानमें भी एक ऐसी ही कहावत है 'करणी भोगै आपकी, के बेटेके बाप ।' कहावतोंमें जैसे वस्तु-परिगणनकी प्रवृत्ति देखी जाती है, वैसी अनेक पौराणिक सूक्तियोंमें भी मिलती है । उदाहरणके लिये एक उक्ति यहाँ दी जा रही है—

'शनैर्विद्या शनैरर्थाः शनैः पर्वतमारुहेत् ।
शनैः कामं च धर्मं च पञ्चैतानि शनैः शनैः ॥

(पृ० ६२)

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

केदारनाथ

गङ्गोत्तरीसे विदा हो गङ्गाके तटवर्ती पथपर भागीरथीके प्रवाहकी ओर फिर हम उनके साथ ही चल पड़े। गङ्गोत्तरीसे केदारनाथ जानेवाले यात्रियोंको लगभग ३९ मील भटवारीतक उसी रास्ते वापस लौटना पड़ता है, जिस रास्ते हम गङ्गोत्तरी गये थे। हमारे ऋषिकेशके कार्यक्रमके अनुसार यद्यपि हमारा केदारनाथका पथ गङ्गोत्तरीसे लौटकर फिर ऋषिकेश वापस पहुँच ऋषिकेशसे ही मोटरद्वारा देवप्रयाग होकर रुद्रप्रयागतक तथा शेष पद-यात्राका था, किंतु गङ्गोत्तरी जाते वक्त उत्तर-काशीमें, फिर हरसिलमें तथा बादमें गङ्गोत्तरीमें भी अनेक मित्रोंने हमें अपना उक्त कार्यक्रम परिवर्तित करनेका परामर्श देते हुए केदारनाथके लिये एक और सीधा रास्ता बताया जिस रास्ते जानेसे हमारे समयकी भी कुछ बचत होती थी तथा अपने बने कार्यक्रमके अनुसार चलनेकी अपेक्षा इस नये मार्गसे यात्रा करनेपर हमें कुछ अधिक और अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य भी देखनेको मिलते थे। गोविन्ददास जो अपने कार्यक्रममें कभी कोई परिवर्तन न करनेके आदी हैं, प्राकृतिक दृश्योंके बाहुल्य और उनकी श्रेष्ठताके लोभमें पड़ राजी हो गये और हम अपना पथ परिवर्तितकर भटवारीसे ही सीधे केदारनाथ जानेके लिये उद्यत हो गये। केदारनाथका यह मार्ग भटवारीसे छूणाँ, पगराणाँ, झाला, बूढ़ा केदार, भोट चट्टी, धुत्तू दुफन्दा, पँवाली, मग्गू कोमाँडा, त्रिजुगीनारायण और गौरीकुण्ड आदि होकर जाता है। यह सारा मार्ग पैदलका ही है। फिर इस मार्गमें पँवालीकी चढ़ाई भी जो अपनी कठिनताके लिये इस ओर काफी प्रसिद्ध है, हमें पार करनी थी, अतः इस दृष्टिसे यह नया मार्ग हमारे लिये सुविधाजनक तो था ही नहीं, अपितु नितान्त असुविधा-जनक भी था। किंतु मार्गकी दुर्गमताओं और यात्राकी असुविधाओंको तो अब हमने ताकमें रख दिया था। हिमालयकी यात्रामें, शारीरिक श्रम न हो और यात्राका समय शारीरिक सुखों और भोगोंमें बीते, यदि कोई यह कल्पना करे तो वह एक अज्ञानता ही नहीं मूर्खतापूर्ण बात होगी। हाँ, यहाँ एक महान् सुखकी प्राप्ति अवश्य होती है और इस सुख-की मात्रा भी तब और अधिक बढ़ जाती है जब कोई कठिन-से-कठिन श्रम उठाने, अधिक-से-अधिक कष्ट सहने और यहाँ-तक कि अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा आगे बढ़नेके लिये तैयार हो जाय। ऐसी स्थितिमें हमें यहाँ ऐसे प्राकृतिक मनोहारी दृश्य मिलते हैं, जिनके अवलोकनके आगे स्वर्गकी कल्पना भी फीकी पड़ जाती है। हमारे भटवारीसे छूणाँ होकर एकदम पैदल केदारनाथ जाने और पँवालीकी दुर्गम चढ़ाई चढ़नेके निर्णयमें इसी दैवी सुखकी कल्पना थी। हमारे इस निर्णयके पूर्व हमारे साथकी महिलाएँ यद्यपि कुछ झिझकीं, किंतु गोविन्द-दासने कहा, ये दुर्लभ दृश्य सहज नहीं मिलते, अतः इन दृश्योंके आकर्षणके कारण यात्राके इस परिवर्तित कार्यक्रमपर सब लोग सहमत हो गये।

गङ्गोत्तरीसे विदा होकर हमलोग भैरोंघाटी, हरसिल, सुक्की और गंगनानीके अपने पूर्व मुकामोंपर ठहरते हुए दिनाङ्क १४ जूनको भटवारी पहुँचे। भटवारीमें इस बार हमारे ठहरने-की व्यवस्था यहाँके वन-विश्रामालयमें थी। यहाँ एक घटना घटित हुई। हम आज रात्रि मुकाम कर दूसरे दिन प्रातःकाल ही यहाँसे केदारनाथका मार्ग पकड़नेवाले थे। संध्या समय जब सब लोग अपने भोजन-भजनमें व्यस्त थे, हमारी डंडी-वालोंका एक अगुआ गोविन्दप्रसादसे आकर मिला और उसने अपने एक साथीकी बीमारीकी बात बता आगे बढ़नेसे इन्कार किया। हमारे साथ दो डंडियाँ थीं और दो डंडियोंके आठ आदमियोंके इस अगुआने सबकी ओरसे अगवानीकर जब आगे बढ़नेसे इन्कार किया, तब यात्रादलके व्यवस्थापक गोविन्दप्रसाद कुछ चिन्तित हुए और उन्होंने प्रत्येकसे स्वयं बात कर उन्हें समझानेकी बहुत कोशिश की, किंतु सभीने एकमतसे अपने अगुआके मतकी पुष्टि करते हुए आगे बढ़नेमें अपनी असमर्थता जाहिर की। इतना ही नहीं, अब इन आठ आदमियोंमें प्रायः चार बीमार हो गये थे जब कि इनके मुखियाने केवल एक आदमीके बीमार होनेकी बात कही थी। गोविन्दप्रसादने अचानक आ पड़ी इस विपद्का हाल हम लोगोंको बताया। सभी बड़े पशोपेशमें पड़ गये। इस बीच हमें मालूम हुआ यहाँ एक मजदूर एजेन्सी भी है। गोविन्द-प्रसादको इस मजदूर एजेन्सीसे मिलकर नये मजदूर तलाशने-को कहा गया। चूँकि डंडियाँ हमारे पास थीं ही, किंतु

गोविन्दप्रसाद पीछे पाँव लौट आये और हमारे पूछनेपर कि क्या हुआ ? उन्होंने कहा कोई प्रबन्ध नहीं हो सका तथा कथित मजदूर एजेन्सीका जो हाल उन्होंने बताया, उसे सुनकर तो हमें हँसी आ गयी। यह मजदूर एजेन्सीका कार्यालय और उसके कर्मचारियोंमें केवल एक आदमी था जो चलता-फिरता इसी टोहमें रहता कि कोई यात्री फँसे और अपनी बिना बोर्ड, बिना लाइसेन्स, बिना कागज और कार्यालय तथा बिना कर्मचारियोंवाली इस एजेन्सीके द्वारा मजदूरोंकी दलालीमें कुछ हासिल कर ले। आखिर न उसके कुछ हाथ लगा और न हमारे। अस्तु ···, इस आपद्के कारण हमारी प्रातःकालकी यात्रा स्थगित हो गयी। नये मजदूर तलाशनेपर मिले नहीं। आखिर इन्हींका, जो वास्तवमें बीमार तो थे नहीं, सौ-पचास इन्हें और देकर इनका आर्थिक उपचार करनेकी बात सोची, किंतु ये लोग टस-से-मस न हुए। प्रश्न उठा अब हमारी आगेकी यात्रा कैसे हो ! फिर प्रश्न था पँवालीकी चढ़ाई और केदारनाथतक सारा रास्ता पैदल चलनेका। हमलोग विचारमें पड़ गये कि बिना डंडियोंके इस रास्तेपर चलना कहाँतक उचित होगा; क्योंकि दलमें सभी प्रकारके लोग थे, जाने कब किसको ढोनेकी जरूरत पड़ जाय। बड़े संकटमें पड़े, अक्ल काम नहीं करती। 'जंगलमें जाकर छोड़ा'—वाली कहावत इन डंडीवालोंने चरितार्थ कर दी। इस धोकम-धाकी स्थितिमें समय जा रहा था। अन्तमें निरुपाय अवस्था और बेबस स्थितिमें हमने अपना ताजा निर्णय वापस लिया और उसी पुराने निर्णयके अनुसार ही अपने पूर्व कार्यक्रमके अनुसरणमें धरासूकी ओर चल पड़े। सभीके मन इस बेबसीके कारण खिन्न थे।

इस अवसरपर हमें दिग्विजयके मार्गमें अग्रसर यूनानके सम्राट् सिकन्दरकी वह कथा याद आ गयी, जिसके कारण सिकन्दरको उसके सैनिकोंद्वारा भारतीय सीमामें हथियार डाल देने और आगे बढ़नेसे इन्कार करनेके कारण विवश हो यूनान लौटना पड़ा था। कभी-कभी मानव-जीवनमें बहुत छोटी-छोटी बातोंसे बहुत बड़ी-बड़ी बातें याद आ जाती हैं। वही दशा आज हमारी हुई थी। सिकन्दरके सैनिकोंकी तरह हमारे भारवाहकोंने भी आज हमारी उत्तराखण्डकी यात्राके मार्गमें अपना कंधा डाल दिया। अतः पँवालीकी चढ़ाई और केदारनाथके समूचे मार्गपर पैदल चलनेके लिये जो दिग्विजयी कदम हम बढ़ा रहे थे वह हमें वापिस लेना पड़ा। हाँ, हमारे और सिकन्दरके लक्ष्यमें एक अन्तर अवश्य था और इसी अन्तरके कारण हमें अधिक कठिनाईका सामना न करना पड़ा। केवल पथ-परिवर्तित कर ही हमने अपने लक्ष्यकी पूर्ति कर ली। अन्ततोगत्वा हम धरासूके रास्ते धरासूतक पैदल और धरासूसे ऋषिकेश मोटरसे वापस लौटे। धरासूसे ऋषिकेश लौटते वक्त मार्गमें एक दुर्घटना और हुई। टेहरी और नरेन्द्रनगरके बीचमें हमारी मोटर उतारकी ओर एकके बाद एक मोड़ पार करती बढ़ती जा रही थी। यकायक हम सभीको कुछ मशीन रबड़ जैसी चीजके जलनेकी गंध आयी। हम लोग कुछ कहें कि इसी समय गाड़ीके कंडक्टरने ड्राइवरको गाड़ी रोकनेको कहा। गाड़ी रुकी—कंडक्टरने नीचे उतरकर देखा तो पिछले चाकोंमें बायीं तरफके दोनों चक्के अपना स्थान छोड़कर राडके सिरेपर आ गये थे। सौ-पचास फुट ही मोटर और आगे बढ़ती तो दोनों चक्के भूमिपर आ जाते और मोटर अपने दाहिनी ओरकी लगभग तीन हजार फुट नीची भयानक खंदकमें जा गिरती। दोनों चक्कोंके इस तरह अलग होनेकी बात ज्यों ही हमलोगोंको मालूम हुई, बड़ी घबराहटमें गाड़ी छोड़कर हमलोग नीचे आये और ज्यों ही वह दृश्य देखा तो हा-हा साँसें लेकर सभी कंडक्टरको, जिसने गाड़ी रुकवाकर यह दुर्घटना बचा दी, दुआएँ और भगवान्‌को धन्यवाद देने लगे। सचमुच, अपने सत्कर्मों और मोटरमें बैठे यात्रियोंमें किसी एक या अनेक सत्पुरुषोंके सांनिध्यका ही फल था कि यह जीवनघातिनी दुर्घटना टल गयी। अन्यथा सौ-पचास कदम मोटरके आगे बढ़ते ही दुर्घटना हो जाती और उस ऊँचाईसे नीचे हजारों फुट गहरे खंदकमें गिरकर कोई एकाध भी बच सकता है यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस अवसरपर 'जाको राखे साँइयाँ' अथवा 'मारनेवालेसे बचानेवाला बड़ा' वाली बात सभीकी जबानपर आ गयी।

हमारी यह मोटर तो आगे अब किसी तरह बढ़ ही नहीं सकती थी, ड्राइवरने देखकर कह भी दिया नया पुर्जा आयेगा, तब गाड़ी आगे बढ़ सकेगी। उसमें कुछ ठोक-पीट या मरम्मतकी तो बात ही नहीं थी यद्यपि होती भी तो यात्री ही राजी कहाँ होते उसमें सफर करने। अतः वह आगे भले ही न पहुँचा सके, ऐसी मोटरने हमें सकुशल छोड़ दिया, यही हमारे लिये गनीमत थी। आखिर उससे अपना पिण्ड छुड़ा हम ऋषिकेश पहुँचनेका साधन खोजने लगे। सारे मोटरके मार्गमें यातायातकी एकतरफा व्यवस्था है और इस व्यवस्थाके कारण इस समय ऋषिकेशकी ओर जानेवाली गाड़ियों-

का ही मार्ग खुला था। हमलोग धरासूसे जिस गेटसे निकले थे, उसी गेटसे हमारे पीछे अनेक गाड़ियाँ आनेवाली थीं। अतः उन्हींकी आशा हमारे लिये हिमालयके इस वन-प्रदेशमें जहाँ हमें पानी भी न मिलता, एक बड़ा अवलम्ब बनी हुई थी। कुछ ही देरमें कुछ मोटर लारियाँ इसी कम्पनीकी आयीं तो हमारी मोटरके मार्गमें अड़ी रहनेके कारण पीछे रुक गयीं। हमारी गाड़ीके ड्राइवरने इन मोटरोंमेंसे एकमें, इन मोटरोंकी सवारियोंको एक-दूसरेमें स्थानान्तरित कर हमारे पूरे दलकी एक साथ बैठनेकी व्यवस्था कर दी। सामान हमारा एक दूसरी लारीमें लादा गया। कोई घंटेभर देरसे जब हमारा सामान ऊपर-ही-ऊपर दूसरी मोटरपर लद गया चूँकि आजू-बाजूमें तो इतना स्थान ही नहीं रहता कि सामान नीचे उतारा जाता। फिर, मार्गमें अड़ी मोटरको किसी तरह सावधानीपूर्वक कुछ आगे-पीछे कर जहाँ अन्य गाड़ियोंके निकल जाने लायक स्थान मिला, वहाँ लगाकर फिर हमारी दूसरी मोटर चली और झुलपटेमें ऋषिकेश पहुँच गयी। ऋषिकेश पहुँचकर हमने यात्राकी नयी व्यवस्था की।

२१ जूनके प्रातःकाल सात बजे हम ऋषिकेशसे मोटर बसमें केदारनाथके लिये रवाना हुए। ऋषिकेशसे काकड़ागाढ़-तक लगभग १०५ मील यद्यपि मोटरका मार्ग था, किंतु रुद्रप्रयागसे आगे अलकनन्दापर अबतक मोटर जानेके लिये पुल नहीं बना है। इसलिये ऋषिकेशसे जो मोटरें जाती थीं, वे रुद्रप्रयागमें ही रुक जातीं। रुद्रप्रयागमें अलकनन्दाको पैदल पुलसे पार करना पड़ता है और अलकनन्दाको पार करनेके बाद रुद्रप्रयागसे दूसरी मोटर काकड़ागाढ़ जाती है। परंतु, हमें तो सीधे रुद्रप्रयाग भी नहीं जाना था; क्योंकि बीचमें हम देवप्रयागमें ठहरकर भागीरथी और अलकनन्दाके संगममें स्नान और श्राद्ध आदि करके रुद्रप्रयाग आना चाहते थे। अतः जिस मोटरसे हम ऋषिकेशसे रवाना हुए उसे हमने देवप्रयागमें ही छोड़ दिया।

ऋषिकेशसे देवप्रयागका मोटर-मार्ग करीब-करीब वैसा ही था, जैसा ऋषिकेशसे धरासूतकका, जिससे हम यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरी गये थे। मार्गके काफी चौड़े न होनेके कारण तथा क्षण-क्षणपर घुमावकी वजहसे हमारा ध्यान मार्गका प्राकृतिक सौन्दर्य देखनेके स्थानपर अधिकतर रास्तेपर ही केन्द्रित रहा। देवप्रयाग हम लगभग ११ बजे पहुँचे। न तो ऋषिकेश समुद्रकी सतहसे बहुत ऊँचा है और न देवप्रयाग ही। ऋषिकेशकी ऊँचाई है—१११६ फुट और देवप्रयागकी १५५० फुट। इस साधारण ऊँचाईके कारण ऋषिकेश भी काफी गरम है और देवप्रयाग भी। फिर ज्येष्ठका आखीर और आषाढ़का आरम्भ था, अतः दोनों जगह मौसमकी गरमी थी। तेज धूपके कारण हवा भी गरम ही चल रही थी, किंतु मैदानी इलाकोंके सदृश तेज लू नहीं थी, वरं पर्वतीय प्रभावके कारण उसमें नमी थी। हमलोग अपनी इस यात्रामें लगभग एक माह ठंडे स्थानोंपर रह चुके थे, अतः देवप्रयागका यह मौसम हमें अधिक गरम प्रतीत हुआ। गरमियोंमें सरिताओंके गहरे निर्मल पानीमें पैठकर स्नान करनेसे जो सुख मिलता है, उसका भरपूर अवसर नहीं तो, कम-से-कम पचास प्रतिशत आनन्द तो हमें यहाँ इस गरमीके कारण भागीरथी और अलकनन्दाके संगमके शीतल जलसे लोटोंद्वारा स्नान करनेमें आज मिल ही गया। प्रवाहकी तेजीके कारण हमलोग ही क्या, कोई भी प्रवाहमें घुसकर नहीं नहा पाता। किंतु मौसमकी अनुकूलताके कारण जी भर नहाया।

तीर्थकी दृष्टिसे प्रयागराजके पश्चात् जहाँ गङ्गा और यमुनाका संगम हुआ है, देवप्रयागका ही सबसे अधिक महत्त्व है; क्योंकि यहाँ उत्तराखण्डकी यमुनाको छोड़ तीन प्रधान नदियोंका समीकरण हो जाता है। रुद्रप्रयागमें केदारनाथसे निकली हुई मंदाकिनी बदरीनाथसे निकली हुई अलकनन्दामें मिलती हैं और मंदाकिनीके नीरको अपनेमें विलीन कर अलकनन्दा यहाँ भागीरथीमें मिलती हैं। गङ्गोत्तरीसे देवप्रयाग-तक गङ्गाको भागीरथी कहा गया है और देवप्रयागके बाद गङ्गा अपने प्रधान नामको धारण करती हैं। संगमका दृश्य बड़ा सुहावना है। गङ्गा अपने स्वाभाविक वेगसे बहती हुई आती है और अलकनन्दा शान्तिसे। जिस प्रकार प्रयागराजमें गङ्गा और यमुनाका पानी अलग-अलग दीखता है, उसी प्रकार देवप्रयागमें भागीरथी और अलकनन्दाका। एकका श्वेत और दूसरीका नीला। प्रयागराजके सदृश यहाँ भी अलकनन्दाका नीला नीर गङ्गाकी श्वेत धारामें विलीन हो जाता है और गङ्गा आगे बढ़ती है।

गङ्गोत्तरीमें गौरीकुण्डका दर्शन करते हुए हमने गङ्गाके प्रादुर्भाव, उसके वेग और बहावका उल्लेख किया था। आज यहाँ हम गङ्गाकी गति-मतिके सम्बन्धमें विचारमग्न हो गये। यों तो उत्तराखण्डके इस क्षेत्रमें यमुनाको छोड़ जो अन्य सरिताएँ निकलती हैं, जैसे मंदाकिनी और अलकनन्दा आदि, उन सभीको गङ्गा ही कहा जाता है। किंतु हम यहाँ भागीरथी गङ्गा, जो गङ्गोत्तरी हिमानीसे निकली हैं, के सम्बन्धमें चर्चा कर रहे हैं। गङ्गाके तरङ्गायित प्रवाहमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण बरबस हमारा ध्यान उस ओर खिंच जाता है और अनेक बार हमारा मन गङ्गाके इस प्रवाहपर, उसकी गति, उसकी मति

और उसके जीवनकी दिव्य छटापर घंटों स्थिर हो जाता है।

भागीरथीके नीरकी निर्मलताका कारण बहुत दूरतक उनके प्रादुर्भावकी कथाओंको लेकर लोग उसका दैविक गुणसम्पन्न होना मानते हैं। विष्णुचरणसे उसका निस्सरण होनेके कारण उसमें वह भागवत पवित्रता आ गयी है कि मलिन-से-मलिन वस्तुओंको साफ कर दे और अधम-से-अधम पातकी प्राणियोंको तार दे। अपने इसी विश्वासके कारण लोग गङ्गाके प्रवाहमें डुबकी लेकर अपने पाप धोते हैं और मरणोपरान्त अपने आत्मीयोंकी अस्थियाँ गङ्गामें विसर्जित करते हैं जिसमें उनकी सद्गति हो। यहाँ ध्यान रखनेकी बात यह है कि प्रयागमें जहाँ यमुना और गङ्गाका संगम है, लोग स्नान तो इस संगमहीमें करते हैं किंतु अपने पितरोंकी अस्थियाँ इस संगममें न छोड़ गङ्गाके प्रवाहमें विसर्जित करते हैं। इस दृष्टिसे गङ्गाको हमारे देशमें जो धार्मिक महत्त्व प्राप्त है वह एक श्रद्धाकी वस्तु है, तर्ककी नहीं। फिर भी कुछ वैज्ञानिकोंका मत है कि इसके प्रवाहमें वनौषधियोंका मिश्रण होनेके कारण इसमें यह स्थायी पवित्रता आ गयी है। किंतु तर्क उठता है कि यदि गङ्गाका नीर वनौषधियोंके मिश्रणके कारण पवित्र है तो यमुना, मंदाकिनी और अलकनन्दा तथा अन्यान्य अनेक सरिताएँ भी तो हिमालयके इसी क्षेत्रसे प्रवाहित हैं और इस नाते उनके प्रवाहमें भी वनौषधियोंका वैसा ही समान मिश्रण होता है जैसा गङ्गामें। फिर जलकी यह स्थायी पवित्रता यदि वनौषधियोंका मिश्रण होना ही है तो इन सरिताओंको क्यों प्राप्त नहीं है। अतः तर्क युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। ऐसी स्थितिमें हम केवल इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक खोजों और दार्शनिक विचारोंकी डुबकी लगानेपर भी जब गङ्गाके नीरकी इस पवित्रताका रहस्य हमें ज्ञात नहीं हुआ तो हमारा धार्मिक दृष्टिकोण ही ठीक है।

अब हमारे सामने गङ्गाके प्रवाहमें विभिन्न सरिताओंके रंगों और रूपोंको सम्मिलित होते ही उनके विलीन हो जानेका प्रश्न आता है। यमुनाका श्याम जल गङ्गामें मिलते ही विलीन हो जाता है और यमुना गङ्गामय हो जाती है। इसी तरह अलकनन्दाका नीला नीर यहाँ गङ्गामें मिलते ही अपना रूप तज अस्तित्वविहीन हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है गङ्गामें अगणित जल-प्रपात, झरने, नदी और नाले मिलते हैं। मिलते ही सब गङ्गा बन जाते हैं, उनका कोई पृथक् नाम-निशान नहीं रहता। फिर बड़ी-बड़ी सरिताएँ मिलती हैं, उनका भी अन्त ठिकाना गङ्गा ही होती है। फिर यहाँतक कि प्रयागमें यमुना, जिसका जल-विस्तार और परिमाणमें गङ्गासे अधिक दिखता है, किंतु हम देखते हैं कि श्यामवर्णवाली यमुनाके जलकी विपुल राशि गङ्गाकी धवलधाराको छूते ही न जाने कहाँ खो जाती है। सूरदासने एक जगह कहा है······

सूरदास की कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग।

गोविन्ददासने भी अपनी 'भारतदर्शन' कवितामें काले मेघोंके वर्णनमें लिखा है—

सित पर रँग चढ़ता न असित पर
जग में यह जो बात प्रसिद्ध
कजरारे बारिद बरसारे
करते इसको मिथ्या सिद्ध।

इस प्रकार सूरदासके कथनानुसार काले रंगपर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता और गोविन्ददासके मतानुसार काले रंगपर कभी-कभी अन्य रंग चढ़ जाते हैं, श्वेत रंगपर तो अन्य रंग चढ़ते ही हैं, पर जाह्नवीके श्वेत नीरपर आजतक कोई रंग नहीं चढ़ पाया, यह बात गङ्गोत्तरीसे गङ्गासागरतकके मार्गमें हमें स्पष्ट दिखायी देती है। कुछ देहाती मसलें—कहावतें भी हैं, 'यहाँ रंग चढ़नेका नहीं, यहाँ दाल गलनेवाली नहीं, हम वे लड़ैया नहीं जो दमारमें जल जायँ' आदि। कहनेका मतलब यह कि गङ्गाके निकेतनसे निकलते ही मार्गमें कितने जल-प्रपात, झरने, नदी-नाले और बड़ी सरिताएँ मिलती हैं, पहाड़ोंके चट्टानोंके कितने अवरोध जाते हैं, कितनी बातें होती हैं, उसे रोकनेकी उसे मलिन करनेकी। पर न वह किसीके मिलनेपर रुकती है, न किसीकी कुछ सुनती है और न किसीको अपनेपर छाने देती है। अडिगभावसे मुश्किलोंको—मार्गमें अड़े पहाड़ोंको चीरती-फाड़ती पार करती बढ़ी जाती है अपने इष्टकी ओर। यह सब गङ्गाके बड़प्पनकी बातें हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान खिंच जाता है।

इन सब बातोंपर विचार करनेके अनन्तर जब हम अपने दैनिक जीवनपर जाते हैं, तब हमारे सामने भगवान् बुद्ध, महावीर, गाँधी आदिके चरित्र आ जाते हैं। इनके जन्म साधारण मानवकी कोटिमें हुए। किंतु इनके जीवनकी कथाओंपर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें मालूम हो जाता है, इन्होंने अपने जीवनमें असाधारण गति धारण की। तभी इनको सर्वोपरि स्थान मिला और ये अवतारी तथा (आदर्श) पुरुष बन सके। अधिक विस्तारसे हम देखें तो ज्ञात होगा, हमारे दैनिक जीवनमें, क्या विद्याध्ययनके क्षेत्रमें, क्या जातीय संगठनमें, क्या आर्थिक औद्योगिक क्षेत्रमें, क्या सामाजिक, क्या साहित्यिक अथवा क्या धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रमें हमें जो नेतृत्व दिखायी देता है, उस नेतृत्वपर यदि हम दृष्टि डालें तो

मालूम होगा उस नेतृत्वमें अपेक्षाकृत सर्वाधिक गुण, सामर्थ्य और प्रतिभाका समावेश है जिसके कारण ही वह प्रभुता और ऐश्वर्यको प्राप्त है। इन नेतृत्वोंके निर्णयके लिये हम किसी व्यापारीको ही लें। यदि उसे अपनी साधारण अवस्थासे उठकर उद्योगकी उच्च अवस्थापर पहुँचना है तो कठिन परिश्रम और घोर विपत्तियोंका सामना कर एक लम्बी मंजिल तय करनी पड़ेगी। उसके उद्योगके इस मार्गमें उसे अनेक उद्योगपति मिलेंगे जो अवरोधरूप हो उसे पथभ्रष्ट ही नहीं, दबोचकर नीचे गिराना चाहेंगे, किंतु यदि उद्योगी व्यक्तिमें प्रतिभा हुई, उसकी गतिमें वेग हुआ तो वह अपने लक्ष्यतक पहुँच जायगा। इसी तरह अन्य क्षेत्रोंकी तरह हम राजनीतिक क्षेत्रमें भी देखते हैं जिस नेतामें कुछ विशिष्ट गुण हों, उसके विचारोंमें नवीनता हो, उसके कार्योंमें तेज गति हो और नेतृत्वमें प्रतिभा हो, ऐसी प्रतिभा, जो अपने सहयोगियोंको तो अपनेमें समाहित रक्खे ही, अपने विरोधियोंको भी आगे न बढ़ने दे, सभीपर अपने इन विशेष प्रभावों—गुणोंके कारण छाया रहे और सबमें रहकर सबमें मिलकर सबके साथ कार्य कर निर्लिप्तभावसे अपने गन्तव्यकी ओर अग्रसर रह अपने ऊपर किसीका रंग न चढ़ने दे। किसीकी दाल न गलने दे और किसीकी गीदड़-भबकीमें न बहकर उस सियारकी तरह जो दमारमें नहीं जलता, सयाना हो आगे बढ़ता है, उसीको निर्विवाद स्थान और नेतृत्व प्राप्त होता है। यही बात गङ्गाके सम्बन्धमें है। गङ्गाको अपना गन्तव्य ज्ञात है और अपने गन्तव्यकी प्राप्तिमें ऐसी तेजी, ऐसी गति और ऐसी जिंदगी लेकर दौड़ती है कि मार्गके जलप्रपातों, झरनों, नदी, नालों, विशाल सरिताओं और यहाँतक कि दृढ़ दुर्गकी तरह अड़े पाषाण-पहाड़ोंको भी चीरती, फाड़ती, सभीको आत्मसात् करती चलती है। सभीसे अप्रभावित रह अपने इष्टसे पूर्णतया अभिप्रेरित रहती है। यही कारण है कि उसके मार्गमें जो पड़ते हैं, उसे जो मिलते हैं, उसके इस रूप, गति और जाज्वल्य-जीवनके कारण उसके ही हो जाते हैं। संक्षेपमें उसका यह गतिशील जीवन ही उसके सर्वहारी होनेका कारण है। वह इतनी तेज चलती है कि उसमें मिलनेवाली बड़ी-बड़ी सरिताओंका रूप, रंग और प्रवाह उसकी तेजीके कारण विभक्त होकर उसमें समाहित हो जाता है और सभीकी शक्ति लेकर वह शक्तिपुञ्ज भागीरथी बनी भागती जाती है।

भागीरथी और अलकनन्दाके इस संगमपर स्नानोपरान्त गोविन्ददासने सपत्नीक विधिवत् पितृश्राद्ध किया। श्राद्ध करनेके अनन्तर गोविन्ददासको भटवारीसे पँवालीके रास्ते केदारनाथ न जा सकनेपर जो खेद हुआ था, उसका स्मरण आते ही वह खेद दो-तरफे लाभमें प्रकट हो यहाँ हर्षमें परिणत हो गया। उन्होंने कहा, हमलोग जिस धार्मिक मूल प्रेरणासे इस यात्रापर आये थे, उसके इस प्रधान कृत्य पितृ-ऋण-मुक्तिका यह कांचन-संयोग हमें पँवालीके रास्ते जानेपर कब मिलता ? फिर उत्तराखण्डके चारों धामोंकी यात्राका यह सौभाग्य भी गोविन्ददासको ही मिला, उनके कुटुम्बसे इसके पूर्व कोई उत्तराखण्डके चारों धामोंको नहीं गया। अतः इस अभूतपूर्व आयोजन और दुर्लभ योगका पूरा-पूरा लाभ न उठाना दुर्भाग्य ही नहीं, आत्मग्लानिका भी कारण होता। इन्हीं सब भावनाओंसे भरा गोविन्ददासका हृदय हर्षातिरेकके कारण नेत्रोंके रास्ते अमृतवृष्टि कर रहा था। योगायोग सब कुछ भगवान्‌के ही अधीन है। उसीने यात्राके प्रारम्भमें ऋषिकेशमें यात्रा-कार्यक्रम बनवाया, जिसके प्रतिकूल हमलोग पँवाली रास्ते केदारनाथ जानेको उद्यत हो गये। किंतु भारवाहक डंडीवालोंके इन्कार कर देनेके कारण सखेद हम फिर ऋषिकेश लौटे। फिर ऋषिकेशसे देवप्रयागके रास्ते केदारनाथ जानेके कारण पितृ-ऋण-मुक्तिके इस सुकृत्यका यह योग यहाँ मिल गया, जिससे गोविन्ददास अपने कार्यक्रमकी अवज्ञाके दोषसे भी मुक्त हो गये और यात्रापथपर चलकर भी जिस कर्तव्यच्युतता-का दोष मत्थे मढ़ता, उससे भी न केवल बच गये, वरं कर्तव्यबन्धनकी इस एक कड़ीको पूरा कर संतुष्ट हो गये। इस तरह पँवाली-रास्ते न जा सकनेके कारण जिस एक बातका खेद हुआ था, वह यहाँ इन दुहरे लाभोंके कारण लोप हो गया। देवप्रयागमें भागीरथी और अलकनन्दाके संगमके अतिरिक्त हमें कोई विशेषता न दिखी। संगमके कारण इस मार्गके कस्बोंकी अपेक्षा देवप्रयाग कुछ बड़ा था। मकान भी कुछ बड़े और अच्छे थे; किंतु घनी बस्ती तथा लोगोंके रहन-सहन एवं यात्रियोंके आवागमनके कारण गंदगीकी पराकाष्ठा थी। हिमालयकी शिखरावली अन्य स्थानोंके सदृश ही। भोजनादिसे निवृत्त हो चार बजे हम दूसरी मोटरपर सवार हुए। भागीरथीसे हमने देवप्रयागमें विदा ली और उनकी अनुजा अलकनन्दाके किनारे-किनारे केदारनाथके मार्गपर चल पड़े। अब हमें भागीरथीके दर्शनके स्थानपर अलकनन्दाके दर्शन आरम्भ हुए।

(क्रमशः)

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ९२९ से आगे]

नये ब्रह्मा–वैज्ञानिक

परमात्माने, ब्रह्माने, खुदाने दुनियाँ बनायी और वह अद्वैत होकर भी द्वैतरूप भासमान होकर विश्वमें व्याप्त है—ऐसा सब धर्मके लोग मानते हैं, यद्यपि साक्षात् प्रयोगद्वारा कोई अबतक इस मान्यताको सिद्ध नहीं कर सका, क्योंकि यह श्रद्धारूप मान्यता सदैवसे रहस्यमय, अज्ञात और असाध्य रही है। हम या संसार क्या है, कब क्यों कैसे उत्पन्न हुए और क्यों कब कैसे मरेंगे, इत्यादि अनन्त समस्याओं और रहस्योंको न सुलझा सकने, न जान सकनेके कारण, सबके महाकारण रहस्यको परमात्माके नामसे मानते हैं। परंतु क्या कभी किसीने कल्पना की है और पूछा भी है कि ब्रह्मा, परमात्मा या खुदाको किसने पैदा किया, बनाया, उसका निर्माता कौन है ? आस्तिकोंको यह प्रश्न अवश्य बुरा लगेगा; क्योंकि परमात्मा अजन्मा और अमर है, हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत है और इस विषयमें कुछ भी पूछना, सोचना, वाद-विवाद करना व्यर्थ पानी पीटने और हवाको मुट्ठीमें पकड़नेके समान है।

परमात्माने मनुष्यको अपना प्रतिरूप बनाया, यह मान लिया जाय, तो यह केवल आधी व्याख्यामात्र है; इसका उत्तरार्ध पूरक सूत्र भी स्वीकार करना होगा कि मनुष्यने परमात्माको अपना प्रतिरूप बनाया और उसके अधूरे संसार और प्रकृतिकी अंधविकासक गतिमें सुधारकर अपना विशेष ब्रह्मत्व या ईश्वरत्व सिद्ध किया ! पैदा होनेवालेको पैदा न होने देना, स्वस्थ लोगोंको बीमार कर देना, बीमारको स्वस्थ करनेके निमित्त अधिक बीमार-लाचार और छुरी-प्रयोगसे अपंग कर देना, मरनेवालेको मरने न देना, कुछ समयतक रोक रखना, उसे जिलानेके लिये बनावटी प्राणवायु उसमें ठूँसना, बूढ़ेको जवान बनानेके लिये उसके शरीरमें नया रक्त, नयी ग्रन्थियाँ डालना; जो प्राकृतिक होता है उसे रोक देना, और जो नहीं होता है उसे गतिमान् करना; चेतनको अचेतन-मृतवत् कर देना और जडको चलायमान कर देना—यह सब वैज्ञानिकता है, यही नया ब्रह्मत्व या ईश्वरत्व है; ब्रह्मा या परमात्माकी क्रियागतिमें अपनी वैज्ञानिक कलात्मक 'कलम' लगाकर इच्छानुसार फल पाना, सब कुछ विरुद्ध करना मनुष्यका परमात्मगतिपर अधिकार प्राप्त करना है। ऊँचे, पक्के, रंगीन प्रकाशसे चमकते, हवादार, आकाश चूमनेवाले भवन, जिनमें हम अपनी इच्छासे गरम वातावरणको ठंडा और ठंडेको गरम कर लें, पृथ्वी छोड़ द्रुत विद्युत्-गतिसे दूरलोकको अग्निबाणके समान उड़नेवाले रॉकेट, घर बैठे सैकड़ों मील पृथ्वीके चारों ओरकी बात दिखाने-सुनानेवाले टेलीविजन-रेडियो, अन्धकारमय मानव चोलेकी कोठरीके भीतर व्यवस्थित जमे-जमाये हृदय-हड्डी-पेट-आँतोंका चित्र प्रत्यक्ष कर देनेवाली किरणोंका निर्माण करके इस चमत्कारी भयंकर युगमें मानवके कुशल दिमाग और हाथोंसे होते देखकर अब अज्ञात असाध्य रहस्यमय कल्पित परमात्मा या ब्रह्माकी पूजा-मान्यता कौन समझदार व्यक्ति करेगा ? जो परमात्माने नहीं किया वह मनुष्यने किया, परमात्मासे भी अधिक गजब ! जो मानव स्वयंको, थोड़ी बुद्धि उगनेपर ईश्वरका बेटा बताकर विश्वके इतर प्राणियोंपर शासन करके अपना परिचय दे रहा था, वह अब अपने बुद्धिबलसे, हजारों वर्षकी आयुके बाद बालिग होकर स्वयं ईश्वरकी गद्दीपर बैठ रहा है, अपने बाप ब्रह्माको ढकेलकर ! ब्रह्माका कार्य है सृष्टि करना, अब उसकी सृष्टि क्रियापर भी जन्म निरोध करके कर्म-फलके नियमपर वैज्ञानिक छुरी चलाकर उसे व्यर्थ कर दिया कि कर्म करके भी फल न पाये[१], तथा कर्मके बिना फल पावे[२]। नकली हवा[३], नकली पानी[४], नकली भोजन[५], नकली दूध[६], अन्नका दूध[७], नकली घी[८], नकली रासाय-

---

१. Birth-control—Contraception
२. Artificial conception
३. Air-conditioned temperature
४. Fluoride water, aerated drinks
५. Chemical added foods
६. Pasteurized and nonfat dry milks
७. Soya-bean milk, curd etc.
८. Hydrogenated Vegetable oils

निक वस्त्र,[९] सुखप्रसन्नताकी[१०] मायावी संसार-रचना, नकली जीवन,[११] नकली सौन्दर्य,[१२] बनावटी रोग,[१३] बनावटी मौत,[१४] वैज्ञानिक गर्भाधानसे[१५] उत्पन्न संतान,[१६] लौह मानव,[१७] यान्त्रिक मस्तिष्क[१८] जो कभी भूल नहीं करता, बनावटी चन्द्रमा,[१९] नकली चाँदी-सोने[२०]—ये सब परमात्माके बेटे मानवकी सृष्टिकी चीजें हैं। नरको नारी,[२१] नारीको नर,[२२] एक सिरवाले प्राणीमें दो सिर[२३] बना देना, प्राणियोंके रक्त-मवादसे[२४] स्वास्थ्य एवं आयु-वर्धक-कायाकल्पकारक संजीवनी[२५] बनाना—ये सब वैज्ञानिक मानवकी कारीगरी, प्रकृति अथवा सृष्टिके सनातन स्वाभाविक नियमके विरुद्ध हैं।

नकली सृष्टि

ऐसा करके मनुष्य ब्रह्माकी रेखपर मेख ठोंक रहा है। गरमीमें वातानुकूलित ठंड, ठंडमें गरम वातावरण बना देना, पानीको घातक कीटाणुओंसे भरा देखकर उसमें पोटाश परमेंग्नेट, फ्लोराइड आदि डालकर उस मरे कीटाणुओंकी लाशें घुली रहने देना और उसे शुद्ध पानी बताना, दूधको १४० डिगरी फारेनहाइट तापक्रम तक गरम कर उसके भी कीटाणुओंको मारकर तुरंत ठंडा करके उसे भी शुद्ध और उपयोगी बताना, उसकी मलाई-मक्खन निकालकर सुखाकर पानीमें पाउडर घोलकर उसे सुपाच्य उपयोगी दूध बताना कि मूलरूपमें दूध दुष्पाच्य और हानिकर है; दो प्रकारके तेलोंको उग्र रासायनिक मिश्रण एवं क्रियासे साफ कर जमाकर घीके रूपमें जनतामें मिलावट, भ्रम और अनैतिकता फैलाना; कपास ऊन रेशमके बाद अब रासायनिक विधिसे नरम चमकदार कपड़ेका आविष्कार-प्रचार; पहले तस्वीरें दिखाकर बच्चोंका मन बहलाया जाता था, अब सवाक् चल-चित्रोंकी वैज्ञानिक कला और कल्पित झूठी कहानियोंके अभिनय-प्रदर्शनसे मन-बहलावके लिये करोड़ों रुपये खर्च करके प्रौढ़ तथा बूढ़े भी बच्चे बन रहे हैं और किनेमा (सिनेमा) देख-देखकर बाल वृद्ध भावुक होकर प्रायः जनाने गीत गा-गाकर अपनी जनानी प्रवृत्तिका परिचय देते हैं; 'मेरे पियको न डसियो रे,' इत्यादि। औपन्यासिक झूठी कहानियाँ और नाटकोंको विद्यालयोंमें साहित्य-विकासके शिक्षाक्रमका आवश्यक अङ्ग बनाकर विद्यार्थियोंका माथा फोड़ना, अपने हाथ-पाँवको सिकोड़कर यातायातके यान्त्रिक शीघ्रगामी साधनोंके उपयोगसे आरामतलब और रोगी होकर दवाइयाँ खाते-पीते, अन्य प्राणियोंके रक्त-मवाद-मांसादिसे बने घृणित रसोंको इलाजके नामपर अपने खूनमें घोलते हुए कंकाल बने हिलते-डुलते जीना ही जीवन-चर्या बन गयी; जल प्रदाय और विद्युत् प्रदाय बंद हो जानेसे पानी बिना जीना असम्भव और अंधकार मिटानेको घरमें चिराग भी न हो तो मोमबत्तीके भाव उसी समय बढ़ जायँ, अन्यथा समाजके हानिकारक तत्त्व स्वार्थ-साधनका अँधेरेमें अच्छा अवसर पा जायँ; यातायातके कर्मचारी हड़ताल कर दें तो यात्री तथा नौकरी व्यापार-धधेके लोग जहाँ-के-तहाँ फँसे पड़े रहें। महात्मा गांधीद्वारा प्रचलित, अपने सच्चे हकके लिये लड़नेके असहयोग एवं सत्याग्रहरूपी अस्त्रका हठपूर्वक बच्चोंकी तरह रूठनेका आन्दोलन पढ़े-लिखे समझदार भी करने लगे और अपनी चुनी बनायी हुई जनतन्त्री सरकार ऐसे आन्दोलनपर डंडे, अश्रुबम और गोलियाँ बरसाने लगीं! दुबले-पतले-फीके निस्तेज अङ्गोंपर रासायनिक रंग-पाउडर-क्रीम आदि चुपड़कर, बनावटी यान्त्रिक साधनोंसे उभारकर सौन्दर्य और यौवन प्रदर्शन करना, स्वस्थ होते हुए भी और संयम करनेमें लाचार होकर, रोगसे बचनेके लिये रोग-निरोधक टीका लगवाकर अपनेमें नकली बीमारी बनाकर स्वयंको नीरोगी होनेका वैज्ञानिक सार्टिफिकेट बताना; इलाजके लिये अङ्गविशेषकी चीर-फाड़में अथवा अधिक पीड़ा या उत्पातकी दशामें पागल व्यक्तिको शान्त और गर्भवतीको प्रसवके समय पीड़ाके दुःखसे बचानेके लिये कई घंटोंतक बेहोशीमें लाकर मृतप्राय रखना। स्रष्टाने संसारमें ८४ लाख प्रकारके प्राणी प्रचलित किये; किंतु उसके उत्तराधिकारी बालिग बेटेने अब एक नयी निर्जीव 'रबड़-योनि' आविष्कार करके

९. Rayon-Nylon,
१०. Screen Talkie,
११. Medicated, mechanized living,
१२. Artificial beauty—Cosmetics,
१३. Immunity,
१४. Anaesthesia,
१५. Artificial insemination,
१६. Test-tube babies,
१७. Robot,
१८. Mathematical machine brain,Calculator,
१९. Lunik—Sputni
२०. Stainless Steel, artificial gold.
२१-२२. By Surgical Skill,
२३. By Surgical Skill,
२४. Hormone etc. endocrine preparations,
२५. Rejuvenating treatment.

ब्रह्माके सनातन नियमको निर्जीव और रद्द कर दिया। बीजको यों ही नष्ट कर पैदा होनेवालेको न पैदा होने देनेका, आधुनिक सभ्यतामें आवश्यक वैज्ञानिक रिवाज बना दिया। कुछ वर्षों पहले जिस वस्तुके आविष्कारको सुनकर लाजसे लोग मुँह फेर लेते थे और जिसके विक्रय तथा उपयोगमें डाक्टरी प्रमाणपत्र आवश्यक था, जिसे लोग लज्जा और पापकी दृष्टिसे देखते थे, अब वह जन-साधारणमें सभ्यताका आवश्यक रिवाज विज्ञानकी आड़में बन गया। जब कि गाँवोंमें, प्राकृतिक जीवन बितानेवाले अर्धसभ्य, निर्धन समाजमें सनातनसे पीड़ारहित प्रसव होते आये हैं, शहरोंमें अब प्रसवके लिये माताओंको सरकारद्वारा प्रमाणित प्रसूतिगृहों अथवा अस्पतालोंमें जाना अनिवार्य हो गया और प्रसवके समय पीड़ारहित प्रयोगसे उन्हें बेहोशीरूपी नकली मौत तथा चीर-फाड़ और रक्तभण्डारसे रक्तसंचार करना आवश्यक हो जाता है। अब तो अमेरिकामें इस वैज्ञानिक स्वार्थी धंधेके विरुद्ध कतिपय जाग्रत् माताओंने बेहोशीमें कई बार प्रसव करवाकर अभिमत प्रकाशित किया है कि प्रसवके समय कैसा दर्द होता है, यह हम होशमें प्रसव कराकर अनुभव चाहती हैं, मृतप्राय दशाका मातृत्व प्रकृतिविरुद्ध है। 'नाहं जानामि नूपुरे' की बात, जब कि पर-पुरुष सिर उठाकर स्त्रियोंकी ओर न देखते थे और जहाँ माताओं-बहनोंपर पर-दृष्टि पड़नेसे सिर फूटते-कटते थे, पुरुषलोग अपना महान् अपमान मानते थे। ऐसे भारतमें अब वैज्ञानिक अस्त्रों-यन्त्रोंसे सम्पन्न संस्थाओंमें, सनदप्राप्त कुशल वैज्ञानिक पर-पुरुषलोग उन माताओं-बहनोंके अतिशय असंयमसे गूढ़ अङ्गोंकी चीर-फाड़द्वारा चिकित्सा कराने अथवा 'फेमिली प्लानिंग'के नामसे प्रचलित, गर्भनिरोध, संतति-नियमन या गर्भाधानके बनावटी साधन करानेमें स्त्री-पुरुष कोई भी अब संकोच या अपमान नहीं मानते। मानवमें अब पहले-जैसा पवित्र रक्त, आत्म-संयम और आत्म-सम्मान कहीं रह गया है? धर्म या सांस्कृतिक गौरव भी कहाँ है? अब वह हिंदू, अहिंसक जैन-बुद्ध और मुसल्मान भी इस वैज्ञानिक सभ्यतामें अपना खून टटोलें, पौरुष और आत्म-सम्मानकी जरा होशमें कल्पना तो करें कि वे क्या हैं, कहाँ हैं और आगे उनकी संतान क्या बनेगी? संसारकी बढ़ती जन्मसंख्यासे आबादीद्वारा माता पृथ्वीपर पोषण और स्थानकी जिम्मेदारीकी बढ़ती देखते हुए वैज्ञानिक वृत्तिपरायण सरकारोंको यह आवश्यक हो गया कि वे जन्मके भावको रोकें। कानून और वैज्ञानिक नगाड़ेकी इस खुली चोटपर बेशर्मीसे इसका प्रसार हो रहा है, स्वेच्छासे चीर-फाड़ कराकर स्त्रियाँ वन्ध्या और पुरुष नष्टवीर्य बनते जा रहे हैं; क्योंकि अब उनमें नकली एवं रासायनिक विषमिश्रित भोजन, पानी, हवा, दवा, दूध, घी, रहन-सहन सब—नकली-बनावटी वैज्ञानिक होनेसे आत्म-संयम एवं आत्मसम्मान न रहा!

विज्ञानकी धर्मार्थ दूकान

मानव-शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भीतर-बाहर रोग है अथवा नहीं, इसकी सूक्ष्म यान्त्रिक सम्पूर्ण परीक्षा एवं चीर-फाड़ आदि कार्यके लिये किस सम्पन्न अस्पतालमें जानेसे कितना खर्च पड़ेगा? बम्बईके एक धर्मार्थ (!) अस्पतालकी इस सम्बन्धमें भावसूची हमें मिली है, जिसमें प्रायः खास-खास किन्हीं अङ्गोंकी भीतरी-बाहरी जाँच, चीर-फाड़, इलाज आदि क्रियाओंके भाव हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकारसे है—

२) सूक्ष्म किरणोंद्वारा अन्तर्दर्शन Screening.

१२) एकसरे प्रतिप्लेट, जो परीक्षाके बाद वहीं जमा रहेगा।

८) एकसरे प्लेट ले जानेका मूल्य, अतएव कुल २०) रुपये।

३) विद्युत् प्रकाशमें १ मिनट बैठक।

३५०) पेशाब, पाखाना, थूक, खून, वीर्य, मवाद, रीढ़ रस आदिमें कीटाणुओंकी जाँच।

५५॥) दाँतोंकी जाँच, वैज्ञानिक विधिसे उखाड़ना, चीर-फाड़ आदि।

२९) जीभ, कान, बवासीर आदिकी फुटकर चीर-फाड़ आदि।

४१) आँख, नाक, गलेकी फुटकर चीर-फाड़।

१५) डॉक्टरी राय और प्रमाणपत्र।

३) मामूली प्रमाणपत्र।

१५) जीवन-बीमा करानेवालोंके लिये सार्टिफिकेट।

६२) आँखकी ६ प्रकारकी चीर-फाड़।

३५) प्रसवके समय (स्त्रियोंकी) साधारण चीर-फाड़।

३२५) शरीरके अन्य अङ्गोंकी चीर-फाड़।

९५५॥) जोड़। इसके अतिरिक्त अन्य अलिखित फीस भी हैं। हृदय, दिमाग, फेफड़े, मूत्रपिण्ड, यकृत, तिल्ली, आँतोंकी गम्भीर चीर-फाड़की गहरी रकम अलग होगी, जो इस भावसूचीमें नहीं दिखायी गयी है। विचार करनेयोग्य है कि एक जीवित स्त्री या पुरुष अस्पतालके सब विभागोंकी

वैज्ञानिक कारीगरीका पूरा अनुभव लेने जाय तो सैकड़ों रुपये खर्च करके वह किस दशामें लौटेगा ? घर आयेगा या श्मशान जायगा ? किसी बड़ी 'दूकान'के भावोंकी कल्पना कीजिये। विज्ञानके लिये मानव चोलेका क्या मूल्य है ?

अनोखी हिकमत

वैज्ञानिक लोग दो प्रकारके रोग बताते हैं—एक तो आङ्गिक, दूसरा शरीरकी अव्यवस्थित दशा (Organic and Functional disorders), परंतु अब एक तीसरे प्रकारका रोग भी नये-नये लक्षणों और नामोंसे, जिनकी खोज हो रही है, वह है स्वयं डॉक्टरों और दवाओंसे बनाया गया रोग। डॉक्टरी भाषामें इस श्रेणीके रोगोंको 'IATROGENIC' कहा जाता है । डॉक्टरी इलाजसे परेशान होकर और डॉक्टरकी बातोंसे अपने रोगको खतरनाक जानकर घबराहटसे रोग बढ़ जाता है । अखबारोंमें, रेडियोपर, डॉक्टरोंके प्रवचन और लेख सुन-पढ़कर भी लोगोंमें रोग पैदा होते हैं । अमेरिकामें यह बड़ी व्यापक चर्चाका विषय बन रहा है । लोग अब डॉक्टरोंके पास जाने और उनसे बात करनेमें भी डरते हैं, 'जायँ तो डॉक्टर न जाने कौन-सा रोग बतावे, न जाने क्या इलाज करे और उसका नतीजा क्या हो। रोग बिगड़ जाय, बढ़ जाय ! डॉक्टर लोग ऐसे रोगियोंको साइकोसोमेटिक Psychosomatic कहा करते हैं, जो कि डॉक्टरों और दवाओंसे बताया गया iatrogenic होता है। दवाओं तथा अन्य प्रकारके यान्त्रिक उपचारके प्रयोगोंसे रोगियोंपरसे अनुभव लेनेकी डॉक्टरी प्रवृत्तिसे ये रोग उत्पन्न होते हैं, सभी डॉक्टर अपने अनुभव बढ़ाना चाहते हैं और अपना एक नया आविष्कार दुनियाको बताना चाहते हैं, विशेषज्ञ Specialist इसीकी उपज हैं, वे केवल एक अङ्गका इलाज करते हैं, मानो अमुक अङ्ग शरीरके शेष अङ्गोंसे बिल्कुल अलग और असम्बद्ध हो । उसका अन्य अङ्गोंसे कोई सम्बन्ध हो तो इस शङ्काका निवारण और इलाज करानेके लिये दूसरे विशेषज्ञके पास उस रोगीको भेज देते हैं, आमदनी बढ़ानेकी यह एक श्रृङ्खला Chain system चल पड़ी है। लेखों और प्रवचनोंमें, अखबार और रेडियोपर ये डाक्टर रोगोंका प्रचार वैज्ञानिक भाषामें बोलकर करते हैं—'समय-समयपर अपने स्वास्थ्यकी परीक्षा कराते रहिये, अपना एक्सरे लेते रहिये, अपना मानसिक विश्लेषण कराते रहिये । रोगके कीटाणुओंसे सावधान रहिये, आपकी बगलमें बैठे हुए व्यक्तिके छींकनेसे भी उसके कीटाणु आपके श्वासमें आ जाते हैं । अमुक रोगनिरोधक टीका, इंजेक्शन भी समय-समयपर लेते रहिये—इत्यादि घबरा देनेवाली चेतावनीसे लोग डॉक्टरोंके पास दौड़ते हैं, कुछ-न-कुछ रोग और दवा लेकर लौटते हैं । आगे चलकर ये लोग इलाजसे न अच्छे होते हैं न मरते हैं, परंतु उनकी जीनेकी इच्छा मर जाती है—They have lost 'their will to live.' ऐसी मानसिक दशामें उनके शरीरके जीव-कोष अधमरे हो जाते हैं और उन लोगोंमें रोगके कीटाणुओंका पता न चले तो डॉक्टर उसे नयी, अजीब बीमारी कहकर नयी-नयी दवाओंपर टालते रहते हैं । रोगी पूछ बैठते हैं—'डॉक्टर! क्या मैं मर जाऊँगा ? सच-सच बताओ !' और कोई-कोई डॉक्टर कह देते हैं—हालत देखते हुए तो ऐसा ही मालूम होता है 'Tell the Truth. Am I going to die ?"—'I can judge, you certainly are.'

रक्तदान

दवाओं, एक्सरे, प्रयोगशालाकी जाँचके पश्चात् एक नया इलाज पिछले महायुद्धके बाद तमाम व्यापक हो चला है—रक्तदान—Blood Transfusion. । आसन्न-प्रसवा माताओं अथवा जिस रोगीमें खून बहुत कम हो या दुर्घटनासे घायल हो, दूसरे व्यक्तिका—निकट-सम्बन्धीका खून उसके शरीरमें भरकर जिंदा रखनेका साधन किया जाता है । परंतु ऐसा कोई रक्तसाम्यका सम्बन्धी या व्यक्ति न मिले तो अस्पतालोंमें बोतलोंमें सुरक्षित बंद रक्खा हुआ रक्त भी मिल जाता है । इसमें दो बातें मुख्य विचारणीय हैं—क्या ऐसा रक्त उसके लिये अनुकूल है और वह रक्त अस्पतालमें कहाँसे आता है ?

अस्पतालमें रक्तदान अभियानद्वारा लोग जाकर परोपकार वृत्तिसे स्वयं अपना कुछ रक्त दानके रूपमें देते हैं । कोई भी व्यक्ति दुखियोंके प्रति उदार आत्मभाव रखकर अस्पताल जाकर अपना रक्त दे सकता है । यह जीवन-दान सब दानोंसे श्रेष्ठ है, ऐसी बातके प्रचारसे लोग धर्मभावनासे ऐसा करते हैं, यह होता है गुप्तदान; क्योंकि इसमें रक्त देने और रक्त लेनेवालेको परस्परका कोई ज्ञान वा परिचय कुछ नहीं होता। कहा जाता है, खून सो खून । किंतु क्या सब खून एक ही होता है ? रक्तमें रोगके कीटाणु होते हैं । किसी भी व्यक्ति, ज्ञात वा अज्ञात, अथवा प्राणीका रक्त लेना, उस व्यक्ति या प्राणीका मांस मुखसे खानेकी अपेक्षा, उसे रक्तरूपमें आत्मसात् करना ही तो हुआ और इसमें उसके चरित्र, संस्कार और गुप्त अज्ञात रोगोंका भी

आत्मसात् कर लिया जाना क्या नहीं होता । ऐसा रक्त लेकर लोग कितने दिन जीते हैं । It is the most intimate fusion, a type of organic transplantation. जर्नल आफ अमेरिकन मेडिकल असोसिएशनके जिल्द १६३ पृष्ठ २८३ (१९५७) में बताया गया है कि अमेरिकामें प्रतिवर्ष ३५ लाख व्यक्तियोंको ऐसा रक्त दिया जाता है । ब्रिटेनमें १९५७ में साढ़े सात लाख रक्तकी बोतलें खर्च हुईं, जब कि पिछले वर्ष सात लाख । यह सब रक्त कहाँसे आता है । बहुधा यह रक्त मानवोंद्वारा स्वेच्छासे दिया जाता है। अथवा चीर-फाड़के समय, अथवा मरे हुए लोगोंकी चीर-फाड़से भी निकला हुआ होता है । रूसमें मुर्दोंका रक्त बहुतायतसे उपयोगमें आता है । २८ जनवरी १९५८ के 'मेडिकल वर्ल्ड'में बताया गया है कि मास्कोमें एक्सिडेंटसे और अकस्मात् मरे हुए लोगोंका रक्त, स्क्लिफासोस्की अस्पतालमें मुर्दोंको तुरंत ले जाकर निकाल लिया जाता है और यदि उस रक्तका तुरंत कोई उपयोग न हुआ तो सोडियम् साइट्रेट मिलाकर भविष्यके उपयोगके लिये बड़ी बोतलोंमें भरकर रेफ्रिजरेटरोंमें रख दिया जाता है । वहाँके डॉक्टर एस-एस यूदीनने सरकारसे आज्ञा प्राप्त कर ली है, जिसके अनुसार वे, माँग होनेपर, मास्कोकी पचास लाखसे अधिक जन-संख्यामें नित्य अगणित मरनेवालोंका रक्त निकालकर दूर-दूरके शहरोंमें भेजते हैं और रक्तमें कोई 'गम्भीर विकार' हुए बिना हवाईजहाजोंद्वारा चीन और आफ्रिकातक भेजते हैं । पिछले महायुद्धके समय यह उद्योग जोरोंसे चला था ।

बढ़िया मुर्दे !

जो लोग स्वयं फाँसी लगाकर मरे हों, जिन्हें बिजलीद्वारा मौतकी सजा दी गयी हो, या जो लोग हृदयकी कठोर पीड़ा (Angina pectoris) से मर गये हों, ऐसे मरे लोग रक्त निकालनेके हेतु बढ़िया मुर्दे माने जाते हैं । मोटर-दुर्घटना आदिसे मरे हुए लोगोंका रक्त पहले ही व्यर्थ बह जाता है, परंतु फिर भी शारीरिक क्षतिके बिना मरे हुए लोगोंमेंसे ढाई सेरसे लेकर चार सेरतक खून निकल आता है जो कि ५-६ व्यक्तियोंके लिये काफी होता है । ऐसे मुर्दोंका रक्त मरनेके बाद आठ घंटेके भीतर निकाल लेनेसे लगभग एक महीनेतक उपयोगके लायक सजीव बना रहता है, हानिकारक नहीं होता । विशेष विस्तार डॉ० यूदीनके लेखमें, २४ जुलाई १९३६ के 'मेडिकल वर्ल्ड' में पृष्ठ ७१५ पर मिलेगा । इसके पहले बकरों और कुत्तोंमेंसे रक्त निकालकर प्रयोगमें लाया गया था । जिनका प्रभाव मनुष्योंपर बहुत अच्छा पाया गया । 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल'के २४ जून १९४४ के अंकमें बताया गया था कि अमेरिकावालोंने बैल-रक्त-जल अर्थात् बैलके खूनमें रहे हुए जल (Ox-blood serum) का भी बहुत प्रयोग किया था, जो बूचड़खानोंसे प्राप्त किया जाता था । परंतु इस रक्तमें फारमल डिहाइड और अमोनियाँ मिलाकर गर्मी देकर उपयोग किये जानेपर भी जब लोगोंको बुखार और वमनकी प्रतिक्रिया होने लगी, तब इस प्रयोगको बंद कर दिया गया । बादमें बंदरोंके रक्तका उपयोग किया गया; परंतु महँगा होनेसे उसे आगे न चला सके, सोचा था कि बंदर मनुष्यके पूर्वज हैं । इसलिये इनका रक्त विशेष उपयोगी होगा । घोड़ोंका रक्त-जल (Horse-serum) का भी उपयोग मानवोंमें किया गया; परंतु उनका घातक परिणाम होनेसे उसका चलन न हो सका और मानवके लिये मानवका रक्त ही उपयोगी सिद्ध हुआ । 'मेडिकल वर्ल्ड'के जनवरी २२, मई २८, १९३७ तथा जून ३, १९३८ के अङ्कोंमें प्रसूता माताओंके प्रसवके समय निकले हुए रक्त (Placental and foetal blood) का प्रयोग करके उसे १५ दिनतक उपयोगी बताया गया है । मास्कोमें प्रतिवर्ष साठ हजार बच्चोंको जन्म देनेवाली माताओंमेंसे चालीस हजारका रक्त तो आठ हजार व्यक्तियोंकी जान बचा सकता है । सिडनी यूनिवर्सिटीके डॉ० रोनाल्ड बर्न्टने बताया है कि न्यूगिनीके लोग, मानव-मुर्दोंको दफन करने या जला देनेके बदले, चीर-फाड़कर बढ़िया भोजन समझकर अब भी खा जाते हैं; क्योंकि उनका भोजन साधारणतया पोषक नहीं होता । वहाँ सूअर बहुत कम होते हैं और विशेष संस्कारों-पर्वोंमें उनकी बलि दी जाती है—People eat human flesh.........primarily as food, a most nourishing and hygienic means of disposing their dead. (रायटर-टाइम्स आफ इण्डिया—४-९-१९५७) ।

रक्तदानका परिणाम

आकस्मिक दुर्घटनामें चोट आनेसे रक्त बह जाय, पुरानी बीमारी होनेके कारण या भोजनका पाचन बिगड़ा होनेसे रक्त न बनता हो, शरीरमें रक्तकी कमी हो, बालक, जवान या वृद्ध पुरुष हो अथवा गर्भवती मातामें या उसके सद्योजात शिशुमें रक्तका अभाव हो, तो ऐसे लोगोंकी तन्दुरुस्ती सुधारने, उन्हें बलवान् स्वस्थ बनाने और खतरे या मौतसे बचानेके लिये

तुरंत उपाय है उनके शरीरमें रक्त भरकर संचार करना। भोजन खानेसे और पाचनसे रक्त देरसे बनता है, अतः ऐसी सुपाच्य वस्तुएँ दी जाती हैं जिनका रक्त जल्दी बने। ऐसी वस्तुएँ स्नायुमें प्रविष्ट की जाती हैं कि उनके तत्त्व रक्तमें शीघ्र घुल-मिलकर रोगीको शक्ति दें। रोगी जो मुँहसे न खा सके, जो होशमें न हो, जिसकी चीर-फाड़ हुई हो, लाचार हो। ऐसे लोगोंको इसी तरीकेसे ऐसी खूराक दी जाती है, जो सीधे रक्तमें घुल-मिल सके। ग्लूकोज, डेक्स्ट्रन और डेक्स्ट्रावेन ऐसी ही चीजें हैं जिनसे कोई हानि होना नहीं बताया जाता। ये अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं और विश्लेषणसे बनती हैं। परंतु तुरंत अचूक चमत्कारी लाभ बतानेके लिये मानव-शरीरमें अन्य मानवका रक्त दिया जाता है। स्नायुका सम्बन्ध स्नायुसे करके अथवा पहलेसे उदार आत्मदानी सज्जनोंद्वारा दिये हुए रक्त—जो अस्पतालमें रासायनिक प्रक्रियासे सुरक्षित एवं शुष्करूपमें रक्खे रहते हैं, रोगीको दिये जाते हैं। इससे तुरंत तो रोगी व्यक्ति भला-चंगा सजीव हो उठता है, वैज्ञानिक क्रियाका चमत्कार दीखता है; परंतु कुछ ही महीनोंमें यकृत्-रोगी हो जानेसे उसके यकृत्पर रक्तदानसे अधिक श्रम पड़नेके कारण विकार जम जानेसे, यकृत् कठोर होकर सूख जानेसे उसकी मृत्यु हो जाती है। ११ नवम्बर १९५० के डॉक्टरी अखबार 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल'में बताया गया है कि १९३८ में मानवका जितना रक्त अन्य रोगियोंको दिया जाता था, १९५० में उसकी मात्रा पचासगुनी बढ़ गयी और प्रतिवर्ष दिनोंदिन रक्तदानद्वारा रक्त-संचारका रिवाज बढ़ता जा रहा है। रक्तदानी लोगोंके रक्तमें प्रायः विशेष प्रकारका रुग्ण *विकार रहता है जो रोगीके अंदर पहुँचकर उसके यकृत्को विकृत करके मृत्यु ला खड़ी करता है। यह क्रिया ६ साल बादतक मृत्युमें फलित होती पायी गयी है।

'मेंचेस्टर मेडिकल सोसायटी'के समक्ष भाषण करते हुए खोजी डॉ॰ जी॰ एफ॰ विल्किन्सनने बताया, जो २४ अक्टूबर १९५३ के डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट'में छपा है कि रक्तदानसे मनुष्यकी जान तुरंत तो बच जाती है परंतु यह व्यर्थ होती है, अनावश्यक होती है और घातक भी होती है।

इसकी पुष्टिमें पहले ही 'जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन'के जिल्द १४७, पृष्ठ ७२७ (१९५१) में लिखा जा चुका है, जिसको इंग्लैण्डके 'लाँसेट'ने २९ दिसम्बर १९५१ के अंकमें दुहराया है कि रक्तदानद्वारा रक्तसंचारकी क्रिया खतरेसे खाली नहीं है।

गत तीस वर्षोंसे प्रचलित इस खतरनाक अंधवैज्ञानिक परम्पराके प्रति २६ फरवरी १९४९ के 'लान्सेट' में डॉक्टर जी॰ एफ॰ गेब्रियलने चेतावनी प्रकाशित की है, उन्होंने सूखे सुरक्षित रक्त प्लाज़माकी एक बोतलपर ईमानदारीसे लगाये गये लेबलको बताया जिसमें लिखा था—'खास बात'—इन्चार्ज डॉक्टरके लिये'—'सूखा प्लाज़्मा या सूखा सीरम संचार करनेसे दशप्रतिशत रोगियोंमें यकृत्की Hepatitis सूजन होना पाया गया है।' यह बीमारी भले ही तुरंत न मालूम हो, उसका असर तीन महीने तकमें प्रकट होता दीखता है और साधारण मात्रामें यह घातक भी होती है।

फिर भी कितने अंधेरकी बात है कि रक्तदानी दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं और रक्तसंचार धड़ाधड़ हो रहा है। 'मेडिकल डिपार्टमेंट ऑफ एडमिरल्टी'के सर्जन रियर एडमिरल एस॰ जी॰ रेन्सफोर्ड॰ सी॰ बी॰ ई॰, डी॰ एसःसी; एम्॰ डी॰, एम्॰ बी॰, बी॰ एस॰ एस॰ ए॰, एम॰ आर॰ सी॰ पी॰ ने २७ अक्टूबर १९५६ के 'लांसेट'के अंकमें अपना पत्र प्रकाशित किया है कि '१९५४ में रक्तदानियोंकी संख्या ७,००,२०२ से बढ़कर १९५५ में ७,५९,५७१ हो गयी। ऐसे रक्तदानसे रोगियोंमें पीलिया Homologous serum jaundice बढ़ता जा रहा है। हम नहीं कह सकते कि यह प्रथा कितनी खतरनाक है और इसका क्या कैसे इलाज किया जाय।' 'This increase in the use of blood and blood products must entail in the increase in the number of cases of homologous serum jaundice. At present we have no certain knowledge of how dangerous transfusion of blood and blood products may be, nor are we any nearer to solving the problem of preventing homologous serum jaundice.'

टोरण्टो, ओण्टारियो, कनाडासे प्रकाशित अखबार 'सेटरडे नाइट' (Saturday Night) के ७ नवम्बर १९५९ के अंकमें 'रक्तदान-संचारसे मृत्यु हो सकती है' (Blood Transfusion can kill) शीर्षकसे डॉ॰ ब्रायन केहिल (Brian Cahile) ने लिखा है कि 'आपरेशन टेबलपर रक्तसंचारकी प्रक्रियासे किसी रोगीकी भी तुरंत मौत हो सकती है, जब कि उसके रक्तपर अन्य व्यक्तिके रक्तकी अरुचिकर (Allergic reaction)

* Mysterious Virus.

प्रतिक्रिया होती है, अथवा कुछ समय आगे-पीछे उसके यकृत्में सूजन हो सकती है, कठोर आन्तरिक आघातसे वह मर सकता है। आज जिस लड़की या स्त्रीकी रक्ताल्पतामें अन्य व्यक्तिका रक्त उसे दिया जायगा, इससे सम्भव है कि कई साल आगे चलकर उसके गर्भस्थ प्राणीकी मौत हो जाय अथवा जन्म लेनेके बाद भी वह मर जाय; क्योंकि रक्तदानीमें कोई ऐसा अज्ञात कारण होता है जिसका अबतक पता नहीं है।

'A blood transfusion can kill a man almost instantly on the operating table when he develops a severe allergic reaction to another's blood. Or it causes him to come down, sometimes within hours, sometimes not for months, with hepatitis, a virus infection that results often in severe illness and sometimes in death. And the most tragic danger of all lurks in the fact that blood transfusion given to a girl or woman today may, many years later, kill her unborn child or her newborn infant because of the mysterious factor existing undetected in the donor's blood.'

जार्ज बर्नार्ड शाने एक बार कहा था कि 'वैज्ञानिक लोग एक समस्या हल करके दस नयी समस्याएँ पैदा करते हैं। अर्थात् एक रोग दूर करके दस नये रोग पैदा करते हैं।'

इसपरसे एक वैज्ञानिक बोल उठा, 'शा साहबको यह नहीं मालूम कि यदि विज्ञानद्वारा समस्याएँ बिल्कुल हल की जा सकें, नयी समस्याएँ न उत्पन्न हों तो विज्ञानका काम रुक जाय और वह उन्नति न कर सके।'

एक शब्दमें इसका यह अर्थ हुआ कि वैज्ञानिक लोग दवाके साधनसे रोगका रंग-रूप बदल देते हैं, वह और भी विषम हो जाता है। डॉक्टरी अखबारोंमें ईमानदारीसे प्रकाशित किया जाता है। आजकल इन साधनोंसे खून जहरीला हो जाता है, मृत्यु हो जाती है, परंतु दैनिक अखबार इन बातोंको महत्त्व नहीं देते। वे केवल दवाओंके चमत्कारिक लाभपर महत्त्व देते हैं, जिनके विज्ञापनसे उन्हें पैसा मिलता है और दवाफरोशको भी जिससे लाभ होता है। 'तुम मेरी पीठ खुजलाओ और मैं तुम्हारी पीठ खुजलाऊँ' जैसा वह पारस्परिक व्यवसाय दवाफरोश और अखबारवालोंकी आमदनी बढ़ाता है। लन्दनके 'न्यूज क्रानिकल, अक्टूबर २६, १९५९ में समाचार छपा है कि 'अस्पतालोंमें आजकल रोगियोंका खून जहरीला होनेसे अधिक संख्यामें मृत्यु होने लगी है। पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनसे दस वर्ष पूर्व इतनी मृत्यु नहीं होती थी।'

इसका कारण है कि रक्तदान और रक्तसंचारकी बढ़ती। अर्थात् खून विकृत होनेसे या कम होनेसे रोग होता है तो आजकल दवाइयोंके बदले, जल्दी लाभ दिखानेके लिये रक्त-दान और रक्त-संचारका प्रचार किया जाता है, फलतः रक्त-दानी लोग रक्तदान देते हैं और लाभ लेनेवाले रोगी जीनेके बजाय मर जाते हैं!

केवल इतना ही नहीं, पिछले वर्षोंमें कितनी ही संस्थाओंके डाक्टरोंने अपने अनुभवपूर्ण मत प्रकाशित किये हैं जिनमें रक्तदान और रक्तसंचारको मना किया गया है। कनाडा, विनिपेमके 'ब्लड ट्रांसफ्यूजन' और रक्तरोगोंके विशेषज्ञ डॉ० ब्रूस कोवन; रायल विक्टोरिया हास्पिटल माण्ट्रीलके 'ब्लड ट्रांसफ्यूजन सर्विस'के अध्यक्ष डॉ० पॉल वील, रेडक्रास ब्लड ट्रांसफ्यूजन सर्विसके डाइरेक्टर डॉ० ब्रियन पी० एल० मूर तथा इग्लैण्ड-लण्डन यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर ऑफ पेथालॉजी डॉ० जे० डिबल हैं।

डॉ० डिबलने एक अखबारनवीसको बताया कि अठारहवीं सदीमें जब 'खून निकालने'का रिवाज था और लोग विकृत रक्त निकलवाकर प्राण गँवाते थे, आजकल लोग दूसरोंके रक्तदान और रक्तसंचारसे मरते हैं।

यह समाचार टोरण्टोके 'सेटरडे नाइट'में ७ नवंबर १९५९ में छपा है।

गलकटे

आजकल अपेण्डिक्स, कण्ठकी ग्रंथियाँ, टांसिल और एडिनायड काट निकाल फेंकनेका भी खूब रिवाज चल पड़ा है। अज्ञानी जनता आहार-विहारका संयम नहीं जानती और असंयमसे जब उन्हें गले, पेट या आँतोंमें सूजन-फोड़े आदिकी बीमारी हो जाती है, तब उन्हें चीर-फाड़के सिवा कोई उपाय डॉक्टर नहीं सुझाते। इस आपरेशनसे चार व्यक्ति मर गये तो इंग्लैण्डके डॉक्टरी अखबार 'लांसेट'के २८ मार्च १९५९ के

अङ्कमें जनरल हास्पिटल, स्वानसी, इंग्लैण्डके, कान, नाक, गलेके चीर-फाड़के विशेष सर्जन रजिस्ट्रार डॉ० एम० ई० एन० स्मिथ एल. एम एन. एस. ए. ने अपना तथ्य प्रकाशित किया है—'टांसिल और एडिनायडका ऑपरेशन करके तो मैं साफ बच गया हूँ, परंतु इन ग्रंथियोंकी रचना और चीर-फाड़ कितनी बारीक और नाजुक है कि मैं इनपर छुरी चलाना न्याय नहीं समझता जब कि उसका परिणाम घातक हो। जो व्यक्ति मेरे इस कथनको माननेको तैयार न हो, वह बतावे कि लाभकी आशामें प्रतिवर्ष कितने लोग ऐसे ऑपरेशनसे मौत-के घाट उतरते हैं।'

वैज्ञानिक खेती

सल्फा, पेनिसिलिन, एण्टि बायोटिक, क्षयनिरोधक और अन्य कीटाणुनाशक दवाओंका आविष्कार हुए २५ साल हो चुके और अनेक रोगोंमें उनका इतने वर्षोंमें धड़ाधड़ प्रयोग हुआ है; परंतु कीटाणुओंसे फैलनेवाली बीमारियोंपर अबतक स्थायी विजय नहीं मिली। इन दवाओंके प्रयोगसे कीटाणु पहलवान बनते जा रहे हैं और उनका वंश बढ़ता जा रहा है। डा० फिनलेण्ड और उनके खोजी साथियोंने अधिकारपूर्वक इस विषयमें अपनी रिपोर्ट अमेरिकन मेडिकल असोसिएशनके ड्रग कौंसिलको दी है जिसकी कुछ टिप्पणी इंग्लेण्डके निष्पक्ष डाक्टरी अखबार 'लांसेट'के १६ जनवरी १९६० के अङ्कमें पृष्ठ १५७ पर छपी है। १९३५ के वर्षमें अस्पतालमें छूत और कीटाणुसे फैलनेवाले रोगोंसे आक्रान्त ३०० रोगी अस्पतालमें प्रविष्ट हुए थे, उनमेंसे लगभग दो सौ मर गये थे। सन् ५७ में ऐसे रोगियोंकी संख्या दुगुनी हो गयी जिनमें ढाई सौ लगभग मर गये। आधुनिक इलाजसे पाँच रोगीमें केवल तीनके अनुपातसे बचाया जा सका, जब कि सल्फायुग-के पहले पाँचमें दो बचते थे, परंतु पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टो-माइसिन और एण्टि बायोटिकके उपयोगसे मृत्युका भाव बढ़ा ही है। दवाओंसे रोग कितना घटा ?

अबसे छब्बीस वर्ष पहले इन्फ्लुएंजा फैलानेवाले विष-की खोज हुई थी। १९१८ में जोरोंसे इन्फ्लुएंजा फैला था और अभी कुछ वर्ष पहले उस रोगके कीटाणुओंने अनेक वैज्ञानिकोंके सर-तोड़ आविष्कारोंके होते हुए सारी दुनिया-का गोल चक्कर लगाकर अपनी रजतजयंती—सिलवर जुबिली मनायी, वैज्ञानिक ताकते ही रह गये। १७ अक्टूबर १९५९ के डाक्टरी अखबार 'लांसेट'में ऐसी टिप्पणी छपी थी।

हमारे देशमें जहाँ खूब धूप बरसती है, जहाँ कि सूर्य दादाकी कृपासे क्षयरोगके कीटाणु निर्वंश हो जाने चाहिये, वहाँ इन कीटाणुओंकी जबरदस्त हिम्मत बढ़ रही है; क्योंकि इनके निरोधकी देशव्यापी योजना हो रही है बी-सी-जी टीका अभियान-द्वारा, एवं नये-नये अस्पताल खोलकर इन कीटाणुओंको पाला, विकसित किया जा रहा है। जो बीज बोओगे, वही उगेगा, फलेगा, सूर्य दादा क्या करें। अब तो क्षयनिरोधके लिये दुगुनी शक्तिवाले इंजेक्शन दिये जा रहे हैं, अजी चाहे तिगुने भी दो, जितना बीज बोओगे उतनी अधिक फसल होगी। रॉयल विक्टोरिया हास्पिटल, एडिनबर्ग, स्काटलेंड के फिजिशियन सुप्रेण्टेण्डेण्ड डॉ० जे. डी. रॉस, एम. बी. सी. एच. बी. एफ. आर. सी. पी. के ऐसे वचन डॉक्टरी अखबार 'लांसेट'के २२ नवंबर १९५८ के अङ्कमें पृष्ठ ११२५ में छपे थे। उन्होंने कहा है कि सब दवाइयोंका असर जहरीला होता है और उनकी प्रतिक्रिया शरीरपर कम या अधिक परिणाममें घातक होती है।

'It is not unlikely that the proportion of new patients infected with doubly resistant organisims will show an increase in the future. If so even the triple standard drug regime may prove hazardous and a reorientation of our approach to treatment may be necessary. All of the standard drugs produce toxic effects in greater or lesser degree and hypersensitivity reactions are frequent.'

(क्रमशः)

आध्यात्मिक स्वराज्य

जहाँ न होती 'कुंठा' किंचित्,
वह वैकुंठ कहाता।
इच्छाओंका नाश मोक्ष है,
शास्त्र हमें बतलाता॥

सांसारिक बन्धनसे मुक्ती
परमधाम-पद प्यारा।
आध्यात्मिक स्वराज्यमें केवल
है कल्याण हमारा॥

—गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'

नर्तकीकी नैतिकता

(लेखक—श्रीशान्तिचन्द्रजी मेहता एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

छुम् छन् न न न, छुम् छन न न न ·········कोशा आज पूर्ण भावुकता और शक्तियोंकी सजगताके साथ पुष्प-नृत्य कर रही थी, अपने प्रशंसकोंके विशाल समारोहमें नहीं, सिर्फ अपने प्रेमी स्थूलिभद्रके सामने। किंतु स्थूलिभद्र तो आज वे स्थूलिभद्र नहीं थे, जो कोशाके प्रति आकर्षित हों, वे तो उस दायरेको तोड़कर आज मुनि बन चुके थे और अपने व्रतकी कठोर कसौटीके लिये अपनी ही पूर्वप्रेमिका कोशा-नर्तकीके भवनमें चातुर्मास कर ठहरे हुए थे।

'प्रिय! तुम्हें यह पुष्प-नृत्य तो बहुत ही पसंद था न?'

मुनि ध्यानस्थ थे, पर कोशा कहती ही रही अपनी प्रेम-व्यथा और थककर बोली 'क्या तुम अपनी कोशासे एक शब्द भी नहीं बोलना चाहते? देखो तो, तुम्हारे बिना मैंने अपना क्या हाल बना लिया है?'

मुनिने नेत्र खोले और कहा—'कोशा! इस छिछले मोहके घेरेको काटकर सारे जगत्से प्रेम करना सीखो। उस जीवनमें बड़ा आनन्द है, वह नैतिकताका जीवन।'

और स्थूलिभद्र मुनिके समागमसे कोशा-नर्तकी नर्तकी न रही, एक साधिका बन गयी।

× × × × ×

'गुरुदेव! आपकी आज्ञाका मैंने सर्वांशतः पालन किया है और मेरा नम्र विचार है कि उस अनुकूल आपदामें भी मैं आपकी कृपासे स्थिर रहा हूँ'' स्थूलिभद्रने हाथ जोड़कर चातुर्मास समाप्तिपर गुरुकी सेवामें उपस्थित हो उनसे निवेदन किया।

गुरु अपने स्थूलिभद्रको जानते थे, गद्गद होकर बोले—'शिष्य! तेरी साधनापर मुझे गर्व है।'

गुरुके यह कहते ही दूसरा शिष्य विशाखभद्र ईर्ष्यासे जलकर चीख उठा 'एक अबला नर्तकीके यहाँ चातुर्मास कर स्थूलिभद्र तो गर्वका कारण हो गया और बर्बर सिंहों एवं काल-नागोंकी भयंकरताको भी शान्त कर देनेवाला मैं कुछ भी नहीं।'

गुरुने भी कुछ उत्तेजित होकर कहा—''हाँ कुछ भी नहीं, 'अनुकूल आपदा' को जीतना अधिक कठिन होता है।''

'आगामी चातुर्मास मैं भी किसी नर्तकीके भवनमें ही करूँगा।' यों कहता हुआ विशाखभद्र वहाँसे सरोष चला गया।

× × × ×

'नर्तकी! हम तुम्हारे भवनमें चातुर्मासकी आज्ञा चाहते हैं'—दैवयोगसे मुनि विशाखभद्र कोशाके ही द्वारपर मुखपर अभिमानसे खिंची रेखाओंके साथ खड़े थे।

'चातुर्मास और मेरे भवनमें·····?' कोशा समझ गयी थी कि ये मुनि क्यों आये हैं। स्थूलिभद्रकी शिष्या जो हो चुकी थी। बोली—'मेरा भवन तो वासनाका घर है। मुने! आप स्थिर तो रह सकेंगे न?'

'वासना·····हः हः हः मैंने बर्बर सिंहों एवं कालनागोंको स्थिर कर दिया है।'

मुनिको ठहराकर कोशाने उन्हें कसौटीपर कसना चाहा और इसलिये एक दिन पूर्णिमाकी चाँदनी, जब सुधा बनकर छिटक रही थी, कोशाने वीणापर मदमाती तान छेड़ दी। मुनिने सुना और क्रोधित हो उठे। आकर कहने लगे—'सौन्दर्यके अभिमानमें डूबी हुई नर्तकी! मुनिके सम्पर्कको भी भूल रही है। तेरी भी तो अपनी नैतिकता होनी चाहिये।'

'मैंने भूल की है, क्षमा करें। भविष्यमें ऐसा कभी नहीं होगा देव!' कोशाने वास्तवमें मुनिकी साधनापर विश्वास करते हुए अपना खेद प्रकट किया।

किंतु अपने कक्षमें आनेपर मुनि पुनः ध्यानस्थ न हो सके। स्थूल साधनाका जामा फटने लगा—'कोशा··कितनी सुन्दर लगती थी जब वह गा रही थी····· मैंने निष्ठुरता की है उसे रोककर·····उसके आनन्दको कुचल डालनेका मुझे क्या अधिकार था····· मुझे उससे क्षमा माँगनी चाहिये अभी इसी समय········।'

भावावेशमें विशाखभद्र कोशाके शयन-कक्षके द्वारपर आ खड़े हुए। वह सो गयी थी। खिड़कीसे आता हुआ धवल प्रकाश उसके सरल मुखको सुन्दरतम बना रहा था। मुनि ठिठक गये। देखते रहे, उसे जगाकर क्षमा माँगनेका उन्हें भान ही न रहा।

पौ फटनेने उन्हें चौंकाया और अतृप्त प्यास लेकर वे लौट पड़े। पर अतृप्तको शान्ति कहाँ? यौवन, रूप और

चाँदनी.........मुनि बुरी तरहसे बहक गये थे। बेचैन होकर फिरसे रुपहली रातका इंतजार करने लगे।

× × × ×

कोशा.....मुनि नर्तकीकी शय्यापर बैठे थे और वही पिछली रातवाला दृश्य सामने था। हड़बड़ाकर कोशा उठ खड़ी हुई और उन मुनिके वासनातुर भीषण मुखको देखकर सहम गयी। मुँहसे बोल तक न निकल सका। 'सुन्दरि! भय न करो, मुझे अपने प्रेमकी भिक्षा दे दो......।'

'कोशा प्रकृतिस्थ होकर बोली 'यह मैं क्या देख रही हूँ, मुनि? कल और आजमें इतना अन्तर? क्या तुम्हारी साधनाकी यही गहराई थी?'

'साधना.....हः हः हः मैं भूलमें था। यौवन, रूप, चाँदनी—मैं तो तुम्हारा दास होना चाहता हूँ, कोशा?'

पागलको समझानेके लिये कोशाने सोचा, बिना किसी चालके काम नहीं चलेगा, वह बोली—'तुम्हें अपने प्रेमका पहले सबूत देना होगा।' 'मैं तैयार हूँ' मुनिकी तुरंत याचना थी।

'तो यहाँसे सौ कोस दूर नैपालका राजा रोज प्रातः याचकोंको रत्न-कम्बलका दान करता है, मुझे भी वैसा ही एक चाहिये।' सुनते ही मुनि उसी समय रात्रिकी नीरवतामें ही चल पड़े।

× × × ×

बीहड़ वनों, कँटीले रास्तों एवं कुदरती भयंकरताओंको सहन करते हुए अपने महीनोंके श्रमको लेकर जब विशाखभद्रने रत्न-कम्बल कोशाके हाथोंमें दिया, तब उसने स्नानोपरान्त उससे पाँव पोंछकर उसे कीचड़में पटक दिया।

यह देखते ही वे फुफकार उठे 'मेरे प्रेम और रोमाञ्चक कष्टोंके फलका यह दुरुपयोग कर डाला तुमने नर्तकी?'

नर्तकीने किंचित् हास्यके साथ कहा—'रत्न-कम्बलका तनिक-सा परिश्रम लुट जानेपर इतना विक्षोभ? वाह मुनि, इसी नैतिकताके अभिमानपर तुमने चातुर्मास किया था? स्थूलिभद्रकी महानता मेरे लिये आज और भी ऊँची हो गयी है?'

चोटपर चोटके साथ स्थूलिभद्रका नाम। विशाखभद्र लज्जासे आरक्त हो उठे और सहज सरलतासे बोले 'तुम स्थूलिभद्रको कैसे जानती हो?'

'पहले मैं उनकी प्रेमिका थी और गत चातुर्माससे उनकी शिष्या हूँ।' कोशाके मुखपर एक तरल आभा खेल रही थी और विशाखभद्र धीरे-धीरे कह रहा था—'अब तो मुझे शिष्य बना लो, कोशा! ताकि स्थूलिभद्रकी शिष्याका शिष्य होकर मैं प्रायश्चित्त कर सकूँ। नैतिकता किसीकी थाती नहीं, वह तो भावनाकी सहेली होती है।'

सुखी होनेका रहस्य

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सुखी कौन?

अपूर्णत्वकी अनुभूतिके रहते कोई भी तो नहीं।

अपूर्णत्वकी अनुभूति क्यों?

अहंकारके कारण।

अहंकारके उदय होते ही जैसे ही कोई किसीसे अपनेको पृथक् समझता है, वैसे ही अपूर्णत्वकी अनुभूति उसे घेर लेती है और वह कामनाओंकी भूल-भुलैयामें फँसकर दुखी हो जाता है।

बात यह है कि सब परस्पर पूरक है। अतः सब मिलकर समग्रता लिये हुए है—पूर्ण है। पृथकत्व-प्रतीति ही अपूर्णत्व है—दुःख है।

और भीतरमें।

एक भी अनेक हैं और ऐसे ही तत्त्वतः अनेक भी एक ही है।

अतः तत्त्व-दृष्टिसे सबमें तो पूर्णत्व है ही, सबके कण-कणमें भी पूर्णत्व समाया हुआ है। अपूर्णत्व तो कहीं किनका भर भी है ही नहीं। सचमुच नितान्त अस्तित्व-विहीन ही है वह तो।

हाँ, केवल प्रतीति भर हो रही है अहंकार—मायाजनित मिथ्या अहंकारके कारण इस दुःखमूल अपूर्णत्वकी। भय छोड़ दीजिये इस झूठे हौवेका और अपने सत्यस्वरूपमें नित्य स्थित रहकर झूलिये नित्य-निरन्तर सुख-ही-सुखके अनन्त आनन्दमय हिंडोलेमें!

सुख-दुःखका मर्म

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

सुखमेंसे संतोष निकाल लो और दुःखमें संतोष मिला दो; फिर देखो, दोनोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

सुख और दुःख इसीलिये कल्पित हैं कि वे एक ही मनोवृत्तिके घटने और बढ़नेसे इन दोनों परस्पर-विरुद्ध शब्दोंकी संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।

दस हजार रुपयोंमेंसे एक हजार रुपयोंका नुकसान हो गया तो नौ हजारके अस्तित्वसे अपने आपको सुखी भी मान सकते हैं और एक हजारके घट जानेसे दुखी भी मान सकते हैं।

संत लोग निन्दकोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और सामान्यजनोंको दुःख होता है।

साधु कहते हैं—

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी बिना, निर्मल करे सुभाय॥

एक संत तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दकको मातासे भी बढ़कर समझना चाहिये; क्योंकि माता तो हाथसे मैला साफ करती है और निन्दक मुँहसे साफ करता है। अपना मुँह बिगाड़ता है और हमारे दोष दूर करता है।

मुझे एक व्यक्तिने क्रोधमें कहा, 'साले, मानता नहीं ?' मैंने कहा, 'मैं तुम्हारी धर्मपत्नीको बहन ही समझता हूँ'—यह सुख हो गया और 'क्या मेरी बहनको पत्नी समझते हो ?'—ऐसा कहा तो दुःख हो गया।

एक ही परिस्थितिमें मनःस्थितिके परिवर्तनसे सुख-दुःखका अनुभव किया जा सकता है। धर्मात्मा हर हालतमें सुखी इसीलिये रहते हैं कि वे सभी परिस्थितियोंको या तो अपने कर्मोंका फल समझते हैं या भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला। इसलिये परेशान नहीं होते।

समुद्र वर्षाकी धाराओंसे नहीं घबराता; क्योंकि वे उसीसे पैदा हुई हैं—उसीका स्वरूप हैं और उसके अंदर मिल जानेपर कुछ नहीं रहतीं—इसी प्रकार मनके विरोध करनेसे तथा मनको भगवान्‌में लगा देनेसे सुख-दुःखका कोई भेद नहीं रहता। भूखके कष्टके बिना खानेका आनन्द नहीं आ सकता। इसी तरह सुखके स्वादको चखनेके लिये दुःख अत्यन्त आवश्यक है। बम्बईका सौन्दर्य गटरके अस्तित्वपर ही निर्भर है। शरीरका सौन्दर्य भी आँख, कान और नाक आदि मलद्वारोंके अस्तित्वपर ही अवलम्बित है, इसलिये यह समझकर सदानन्दी रहना चाहिये कि यहाँ जो भी परिस्थितियाँ दिखायी दे रही हैं, वे सब या तो विश्व-व्यवस्थाके लिये आवश्यक हैं या भगवान्‌की लीला हैं या अज्ञानके द्वारा प्रतिभासित हैं। भक्तिमार्गसे आनन्द, योगमार्गसे शक्ति और ज्ञानमार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेके बाद सुख-दुःखकी मनःस्थितियोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। एक पैर मनपर रक्खा तो दूसरा पैर भगवान्‌के पास या मोक्षमें ही पहुँच जायगा, जहाँ सुख-दुःख दोनों समान आनन्दप्रद प्रसिद्ध हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता

मोहनलाल बड़े गरीब घरका लड़का था । उसके माता-पिता मर गये थे । उसकी जातिके ही एक धनी सज्जनने बच्चेको अनाथ समझकर अपने पास रख लिया। नौकरकी भाँति नहीं, बच्चेकी भाँति । मोहनलाल उनकी सभी प्रकारकी सेवा बड़ी प्रसन्नतासे करता और वे उसे बड़े प्यार-दुलारसे पढ़ाते, खाते-पिलाते, सार-सँभाल रखते । बड़ा होनेपर उसे एक कपड़ेकी दूकान करवा दी। समयकी बात, कुछ समय बाद उन सज्जनकी मृत्यु हो गयी । विधवा पत्नी रही और एक लड़का श्यामलाल रहा। लड़का सुशील था । उसका विवाह हो चुका था । वह अपना कारोबार सम्हालता था । गोदाममें माल रहता । एक दिन रातको अकस्मात् गोदाममें आग लग गयी। उस समय बहुत कम लोग बीमा कराते थे । साढ़े तीन लाखका गोदाममें माल था । दमकल देरसे पहुँची । गोदामका सारा माल देखते-देखते जलकर खाक हो गया । डेढ़ लाख रुपये तो उनके घरके थे । दो लाख लोगोंके देने थे । कुछ और देना-पावना था । सब मिलाकर लगभग डेढ़ लाख रुपये देने रह गये । इसी बीच श्यामलालको चिन्ताके मारे टी०बी०की बीमारी हो गयी और दो ही महीनेमें उसका देहावसान हो गया । बच रही उसकी विधवा माता तथा युवती वधू ! तीन महीनेके अंदर ही यह सब अनर्थ हो गया !

मोहनलाल किसी कामसे देश गया था, वहाँ उसको संग्रहणी हो गयी। इससे वह विशेष अशक्त हो जानेके कारण कलकत्ते आया नहीं । कुछ अच्छा होनेपर आया और उसने श्यामलालकी गोदाममें आग लगने तथा उसके देहान्त हो जानेका समाचार सुना तो वह सन्न रह गया। काटो तो खून नहीं ! वह तुरंत श्यामलालके घर पहुँचा और माँकी गोदमें पड़कर रोने लगा। उसको बड़ा पश्चात्ताप इस बातका था कि इस सारी अनर्थमयी दुर्घटनाके समय वह दूर रहा और जान भी नहीं पाया कि क्या हो गया ।

उसकी दूकान अच्छी चल निकली थी। विवाह आदि भी हो गये थे। उसके पास साठ-सत्तर हजारकी पूँजी भी हो गयी थी । उसने रोकर कहा—'माताजी ! श्यामलाल भाई तो जाता रहा पर तुम्हारा यह अभागा छोटा बेटा मोहनिया अभी जीवित है। श्यामलालकी पूर्ति तो मैं नहीं कर सकता पर मैं जबतक जीता हूँ, तुमको जरा भी कष्ट नहीं होगा । मेरे पास अपना कुछ भी नहीं है । मेरे शरीरकी प्रत्येक खूनकी बूँद स्वर्गीय पिताजीकी देन है। मैं उनका बदला सौ जन्ममें भी नहीं चुका सकता । चुकानेकी कल्पना भी नहीं करता । मैं बड़ा अभागा हूँ जो तुमको और पूजनीया भाभीजी—भाई श्यामलालकी पत्नीको इस अवस्थामें देख रहा हूँ। मैं अब यहीं तुम्हारे चरणोंमें रहूँगा । सेवा करूँगा । तुम्हारी छोटी बहू तुम्हारी तथा भाभीकी चाकरी करेगी । जो कुछ रूखा-सूखा भगवान् देगा, सब मिलकर खायेंगे। मैं कमाकर सारा ऋण चुकाऊँगा, यह नहीं कि यह सब मैं पिताजीके उपकारका बदला चुकानेके लिये करूँगा। बदलेका तो सवाल ही नहीं, पर मैं ऐसा किये बिना रह नहीं सकता। अतः अपने सुखके लिये ही करूँगा।' यों कहकर वह फुफक-फुफककर रोने लगा। वे दोनों सास-बहू भी रोने लगीं, मोहनलालकी स्त्री भी रो रही थी । श्यामलालकी माताने मोहनलालको हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछे ।

तबसे मोहनलाल और उसकी स्त्री खरीदे गुलामकी तरह उनकी सेवामें रहने लगे । उन दोनोंके सद्व्यवहारसे वे अपना दुःख बहुत कुछ भूल गयीं। मोहनलालकी कीर्ति फैली, इज्जत बढ़ी तथा साथ ही कारोबार भी । दो ही सालमें श्यामलालका सारा ऋण व्याजसमेत चुका दिया गया। अपनी दूकानका नाम भी पलटकर उनका कर दिया तथा दोनों पति-पत्नीने दोनों सास-बहुओंकी निर्दोष सेवामें लगे रहकर अपना सारा जीवन बिताया । मोहनलालके एक लड़का था, उसको श्यामलालकी बहूको गोद दे दिया। अपना नाम मिटाकर मोहनलालने अपने धर्मपिता तथा भाई श्यामलालका नाम वंशपरम्परामें चलाया । धन्य !

—सीताराम गुप्त

(२)

आदर्श चित्रों और वाक्योंका प्रभाव

आदरणीय शम्भूसिंहजी कौशिक और मैं निमाड़ क्षेत्रका भ्रमण कर रहे थे। एक दिन हमें एक अध्यापक महोदयने अपने घर निमन्त्रित किया। वह दिन रविवारका था। हम

दोनों उनके घर गये। बैठकमें हमने महापुरुषोंके चित्र और वेदवाक्योंके बोर्ड लगे हुए देखे तो मन प्रसन्न हो उठा। कुछ देर इधर-उधरकी बात होती रही तो वे सज्जन कुछ फल लेकर आये, कारण हमें उपवास था। हमसे उन्होंने फलाहार करनेका आग्रह किया, तो 'कौशिक'जीने उन्हें भी फलाहार करनेका कहा।

इतनेमें ही उनका ९ वर्षीय पुत्र वहाँ आ गया। उसने कौशिकजीका आग्रह सुना तो दीवालकी ओर इशारा करके वह अपने पितासे बोला, 'दादा! अपने यहाँ लिखा है, जो अकेला खाता है वह चोर है। इसलिये ये अकेले नहीं खायेंगे, ये चोर थोड़े ही हैं।'

हमने उधर दीवालकी तरफ देखा, वहाँपर बोर्ड लगा था—

'केवलाघो भवति केवलादी।'

(जो अकेला खाता है वह चोर है।)

अनायास ही हमारे दिमागमें आदर्श चित्रों एवं आदर्श वाक्योंके लिखने, लगाने एवं निरन्तर उस वातावरणमें पलनेवालोंपर उनका क्या प्रभाव होता है, यह समझमें आ गया; क्योंकि प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या है।

—दुर्गाशंकर त्रिवेदी

(३)

जरासे कुसंग, गंदे पोस्टर और सिनेमाका दुष्परिणाम

छः साल पहलेकी बात है। मैं······में पढ़ता था। बी० एस्-सी० फाइनलकी तैयारी कर रहा था। एक दिन दुर्भाग्यवश एक छात्र-मित्रके घर चला गया। वे सिनेमाके शौकीन थे। मैं अबतक कभी सिनेमामें नहीं गया था, उस ओर न मेरा कभी ध्यान गया था, न मेरी रुचि ही थी। पढ़नेमें ही मन लगा रहता था। इसीसे मैं अबतक सदा प्रथम श्रेणीमें ही उत्तीर्ण होता रहा। उन मित्रने मुझको साथ ले जाकर पहले तो कई ऐसे पोस्टर दिखलाये जिनमें सिनेमा-तारिकाओंके प्रायः नग्न-से चित्र थे। फिर लौटकर दो-चार सिनेमासम्बन्धी पत्र दिखलाये, जिनमें बहुत-सी तरुणी अभिनेत्रियोंके विविध भाव-भङ्गिमाओंके चित्र थे और उनका वर्णन था। तदनन्तर उन्होंने सिनेमाकी मौजका वर्णन किया और गंदी बातें न मालूम क्या-क्या कह गये। मैं ऊपरसे 'ना ना' करता रहा, पर मेरा मन उन बातोंको सुननेके लिये खिंच रहा था। मैं उस दिन लौट तो आया, पर मेरा मन अब काबूमें नहीं रहा। मैं दूसरे ही दिन सिनेमा पहुँचा। ऊँचे दर्जेका टिकट लिया और देखने जा बैठा। उसी दिनसे मेरा जीवन बदल गया। अब तो मैं रोज सिनेमा देखने लगा। किसी दिन नहीं जा पाता तो बड़ी बेचैनी रहती। एक दिनकी बात, मैं संध्याके समय देखने गया था। मेरे बगलमें ही एक अपरिचित सुन्दरी तरुणी बैठी थी। पीछे पता लगा कि वह भी एक कालेजकी छात्रा थी। उस दिन सिनेमामें कुछ ऐसा दृश्य था कि उसे देखकर मैं पागल-सा हो गया। मेरा मन बेकाबू हो गया। यही दशा उस तरुणी छात्राकी भी हुई। खेल समाप्त होते ही परस्पर संकेत हुआ और हम दोनों चल दिये किसी अज्ञात स्थानको। कहाँ गये, क्या किया। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। पर हम दोनोंका ही पतन हो गया। पढ़ाई-लिखाई सारी चौपट हो गयी। मैं परीक्षामें फेल हो गया। हमारी सिनेमाकी प्रवृत्ति और साथ-ही-साथ पाप-सरितामें बहनेकी वृत्ति बढ़ती गयी। संक्षेपमें—परिणाम यह हुआ कि उस कुमारी तरुणीको इसी वर्ष टी-बीकी बीमारी हो गयी और वह माता-पिताको रुलाकर चल बसी! मैं जिंदा तो रहा पर मेरा चौमुखा पतन हो गया। मैं शराबी-कबाबी भी हो गया। चोर भी बन गया। बड़ी बुरी हालत हुई। दूसरी बार परीक्षा दी उसमें भी फेल हो गया!!

हमारे एक मामाजी हैं। वे बड़े बुद्धिमान् हैं। उन्होंने मेरी बीमारीको पहचाना और गत वर्ष जुलाईसे वे मेरी गतिविधिपर विशेष ध्यान रखने लगे। बड़े प्यारसे वे मुझे कुपथसे हटानेकी चेष्टा करने लगे। फलतः मेरा सिनेमा जाना कुछ कम हुआ। फिर वे मुझे एक दिन······के पास ले गये। उन्होंने मुझको बहुत अच्छी तरह समझाकर मुझसे प्रतिज्ञा करवायी कि मैं अबसे सिनेमा नहीं देखूँगा, शराब आदिका स्पर्श भी नहीं करूँगा। फिर उन्होंने सिनेमासे होनेवाली बुराइयोंको बतलानेवाली एक किताब पढ़नेको दी। मैं तो स्वयं ही सिनेमाकी बुराइयोंका शिकार था। इस पुस्तिकासे मुझे बड़ी सहायता मिली। मेरे पिताजीने भी मुझको डाँटा-फटकारा नहीं, पर बड़े स्नेहसे रो-रोकर समझाया। भगवत्कृपासे तबसे मेरी प्रतिज्ञा निभ रही है। मैंने इस कुमार्गके क्षेत्रमें पड़कर देखा, मेरे-जैसे हजारों युवक-युवतियोंका सर्वनाश हो रहा है। वे यह मीठा विष पीकर जर्जरित हुए जा रहे हैं। मैं भगवान्से प्रार्थना करता हूँ, वे सबको सुबुद्धि दें। सरकारसे भी मेरी प्रार्थना है कि वह मेरे-जैसे लाखों तरुण-तरुणियोंकी जीवन-रक्षा तथा चरित्र-रक्षाके लिये बहुत शीघ्र ही या तो देशका सर्वनाश करनेवाली

सिनेमा-संस्थाका उन्मूलन कर दें या इसमें पर्याप्त सुधार करके इसे देशोपकारी बना दें। पर जबतक यह प्रचुर धन पैदा करनेवाली चीज रहेगी और इसमें तरुणी स्त्रियाँ भाग लेंगी तबतक सुधार होना बड़ा कठिन है।*

—एक भुक्तभोगी दुखी छात्र

(४)

भगवान्‌का वरदान

'वह किधर गये' 'वह किधर गये' ये शब्द, डाक्टरोंके द्वारा मरी हुई घोषित की गयी मेरी माताने चौका लगी हुई जमीनपर पड़े-पड़े आँखें खोलकर दाहिने और बाँयें सिर घुमाकर देखते हुए कहा। मेरी दादीने, जो पास ही बैठी रो रही थी, प्रसन्न तथा विस्मित होकर पूछा 'बीनणी ! किसे पूछ रही हो ? तबीयत कैसी है ?' माताजीने कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुन किधर गये ?' दादीजीने कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुन यहाँ कहाँ हैं ? तबीयत तो ठीक है ? बोलो मत, कमजोरी बढ़ेगी।' उन्होंने (दादीजीने) समझा, प्रलाप है। पुनर्जीवनकी खुशीमें दादीजीने पुण्य संकल्प किया और मेरे पिताजीको मर्दानेमें सूचना दी गयी। और्ध्वदैहिककी सब तैयारी बंद की गयी और डॉक्टर तथा वैद्यने, जो बाहर मर्दानेमें थे, जनानेमें जाकर बीमार माताजीको देखा तो हृदयकी गति ठीक पाने तथा पुनः जीवित होनेपर आश्चर्य करने लगे। मैं और मेरे दो भाई तथा एक बहन एक कमरेमें पड़े रो रहे थे, सो हम भी खुशीमें उछलने-कूदने लगे। घंटे-दो-घंटे सुस्तानेके बाद मेरी माताजीने घरकी सब नौकरानियोंके सामने मेरी दादीसे कहना शुरू किया "भाभीसा ! मुझे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साक्षात् दर्शन हुए हैं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं यहाँ मर गयी हूँ और बादलोंमें चल रही हूँ। चारों ओर धुआँधार-सा हो रहा है। थोड़ी देरमें बादल फट गये और मैं हरी-हरी घास-से ढकी जमीनपर चलने लगी। एक पगडंडी दिखायी दी और उसपर चलने लगी। कुछ दूर चलनेपर एक शहरका परकोटा दिखायी दिया और यह पगडंडी उस परकोटाके दरवाजेकी तरफ जाती दिखायी दी। दरवाजा भी दिखायी दिया। बहुत भूख होनेके कारण कुछ खानेके अभिप्रायसे मैं आगे बढ़ी, पर साथ ही विचार आया कि 'पैसे तो पास हैं नहीं, कोई कैसे देगा; खैर, किसीसे माँगकर ही थोड़ा खाऊँगी। परंतु बड़े घरकी स्त्री होकर कैसे माँगूँगी। माँगा तो नहीं जायगा।' इस उधेड़बुनमें चली जा रही थी कि अचानक रास्तेके बीच दो साधु एक सिंहको साथ लिये आकर खड़े हो गये। मैं सिंहको देखकर डर गयी और ठिठककर खड़ी रह गयी। श्याममूर्तिने मुस्कुराते हुए कहा—'डरै मत, यह सिंह हमारा पालतू है, खायेगा नहीं। तू कहाँ जा रही है ?' मैंने प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा 'मैं दो महीनेसे बीमार थी, मुझे डॉक्टरोंने कुछ खानेको नहीं दिया सो महाराज ! मैं बहुत भूखी हूँ। इस शहरमें जाकर कुछ खाऊँगी।' श्यामवर्ण महात्माने कहा, 'यह तो धर्मराजकी पुरी है। वह देख वह पुरद्वारपर बैठे वयोवृद्ध सफेद दाढ़ीवाले धर्मराज हैं। परंतु तुझे अभी वहाँ नहीं जाना है। तेरे बालक अभी छोटे-छोटे हैं, जबतक वे बड़े न हो जायँ तुझे वापस जाना है।' मैंने कहा 'महाराज ! मैं तो दो महीनेसे १००-१०० दस्त रोज होनेसे बहुत दुखी हो गयी हूँ। मैं अब वापस नहीं जाऊँगी।' श्यामवर्ण महात्माने फिर कहा 'तेरे बालक अभी छोटे हैं और तेरा समय भी अभी नहीं आया है। तू जा, तुझे अब दस्तों-की बीमारी नहीं होगी और समयपर तेरी सहज मृत्यु होगी। तू हठ मत कर, तू जानती है हम कौन हैं ?' मैंने कहा 'महाराज ! मैं तो नहीं जानती।' दूसरे महात्माने कहा 'ये तो श्रीकृष्ण हैं और मैं अर्जुन हूँ।' इतना कहते ही वे दोनों आँखोंसे ओझल हो गये और मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं नीचे गिर रही हूँ। आँखें खुलीं तो आप सामने दिखायी दीं। दर्शनोंसे वञ्चित होनेके कारण मैंने पूछा था कि 'वह कहाँ गये।'"

* उपर्युक्त पत्रको संक्षिप्तरूपमें छापा गया है। नाम-पते भी नहीं छापे जा रहे हैं। सिनेमाका क्या दुष्परिणाम होता है, इसका यह एक छोटा-सा उदाहरण है। सिनेमासे कितने प्रकारके और अनर्थ हो रहे हैं, उनकी तो चर्चा ही यहाँ नहीं है। सिनेमाके द्वारा होनेवाले सर्वनाशकी कोई सीमा नहीं है। यह देशके लिये एक भयानक अभिशाप बन रहा है। पता नहीं, इसका क्या भीषण परिणाम होगा। अवश्य ही सिनेमाके बंद होनेकी बात सोचना वर्तमान वातावरणमें एक व्यर्थ चिन्तन और सिनेमाका विरोध करना भी अरण्य-रोदन-सा ही होगा। परंतु यह उपेक्षाका विषय भी कदापि नहीं है। हमारे पास ऐसे अनेक भुक्तभोगियोंके पत्र आते हैं, जिन्हें पढ़कर हृदय काँप उठता है। सम्मान्य संत श्रीविनोबाजीने गंदे पोस्टरोंके विरुद्ध आन्दोलन चलाया है। हम चाहते हैं वह शीघ्र सफल हो और सरकार कानून बनाकर उनका प्रचार बंद कर दे। साथ ही सिनेमासे होनेवाले भयानक दुष्परिणामपर भी गम्भीरतासे विचार करके कुछ ठोस उपाय सोचे। —सम्पादक

तबसे उन्हें दस्तोंका रोग आजीवन नहीं हुआ। इस घटनाके समय मैं कोई पाँच वर्षका था, परंतु मेरी माताकी मृत्यु होना तथा पुनः जीवित होना साफ-साफ याद है। यह घटना मेरी दादी भी हमें कथाके रूपमें कहा करती थी और मेरी माताजी भी जब हम कौतूहलपूर्वक पूछते तो कहा करती थी। इस घटनाके तीस वर्ष पीछे दो-तीन दिनके हल्केसे बुखार होनेपर बात करते-करते माताजीकी आँखें फिर गयीं और इहलीला समाप्त हुई। उनके पति, पुत्र, पुत्रवधू, पोते, पोती, पोतेकी बहू इत्यादि रो रहे थे—डॉक्टर कह रहे थे हार्ट फेल हो गया; परंतु भगवान् अपना वरदान सफल कर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे। ये राजस्थानके प्रसिद्ध वीर, देशभक्त तथा भगवद्भक्त श्रीरावगोपालसिंहजी* खरवा जि० अजमेरकी छोटी बहन थीं और खँडेला (जयपुर)के राजा सजनसिंहजीकी धर्मपत्नी थीं—बोलो श्रीराधाकृष्णकी जय। —श्रीजैतसिंह खंडेलावाला

(५)

मानवता

एस. एस. सी. का रिजल्ट निकला। उस दिन हाथमें एक छोटी-सी कागजकी पुर्जी लिये वह ट्रक-ड्राइवर मेरे पास आया और बोला, 'भाई! जरा यह नम्बर तो देख दो।'

मैंने पुर्जीमें लिखा नम्बर पढ़ा और राजकोट केन्द्र देखा। अखबारके पन्ने उलटकर नम्बर खोजने लगा। वह ट्रक-ड्राइवर बड़ी उत्सुक दृष्टिसे अपलक मेरी ओर देख रहा था। मैंने उसको देखा और मैं पूछ बैठा—'किसका नम्बर है?'

आतुरता नहीं रोक सकता हो—इस भावसे उसने कहा—'तुम पहले नम्बर देख दो, पीछे मैं सब बताता हूँ।'

मैं इस ट्रक-ड्राइवरसे परिचित हूँ, यह मुझको जानता है। हम दोनों एक ही गाँवके निवासी हैं। मैंने पढ़कर डाक-विभागमें नौकरी कर ली। और इसने कुछ बड़े होनेपर जिम्मेवारीका खयाल आनेसे किसी प्राइवेट ट्रक कम्पनीमें काम करना शुरू कर दिया। अकेला फक्कड़ है, न कोई आगे, न पीछे। खाता-पीता है, और जितना कमाता है, उतनेमें मौजसे जिंदगी बिताता है।

वह बहुत खुश था, उसके चेहरेपर मनके आनन्दकी रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थीं। उसने मुझे जो नम्बर बताया था, वह नम्बर एस. एस. सी. की परीक्षामें उत्तीर्ण छपा था। मैंने उससे कहा कि 'वह उत्तीर्ण हो गया है'—सुनते ही उसने गद्गद होकर कहा—

'आखिर प्रभुने उसकी ओर कृपादृष्टि की तो सही भाई!' और उसकी आँखें डबडबा आयीं।

'तू किसकी बात कर रहा है, ड्राइवर?' मैंने पूछा। और वह भूतकालकी याद करके कहने लगा—'चार वर्ष पहले एक दुर्घटनाका केस हुआ था न? उस दुर्घटनाके मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था भाई! परंतु मुझको उसी समय यह मालूम हो गया था कि जो आदमी उस दुर्घटनामें मारा गया था, वह बेचारा एक मिलमें मजदूरी करके मुश्किलसे अपना गुजरान चलाता था। उसकी साइकल ताँगे और ट्रकके बीचमें आ गयी थी—इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी। इस मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था पर जब मुझे यह पता लगा कि इसका एक लड़का अंग्रेजी तीसरेमें पास होकर चौथे दर्जेमें आया है और अब उसे पढ़ाई छोड़कर मजदूरीमें लगना पड़ेगा, तब ईश्वरने स्वाभाविक ही मेरे मनमें उसकी मदद करनेकी प्रेरणा की''उजले रंगका वह लड़का था, पर पढ़नेमें बहुत तेज नहीं था, अतएव उसे कहींसे फीसके पैसे मिल जायँ या फीस माफ हो जाय—इसकी सम्भावना नहीं थी। मेरे मनमें आया कि जिसके कोई नहीं है, उसका यह ट्रक-ड्राइवर है।

'मैंने उस लड़केसे कहा—'भाई! तू निश्चिन्त होकर पढ़!''' तुझे फीस, पुस्तकें मैं दूँगा, यों चार वर्ष सुख-दुःखसे निकल जायँगे'''उसकी माँ इधर-उधर दल-पीसकर पेट भरती है। भाई! आज मेरी खुशीका पार नहीं है। मेरा मनोरथ सफल हो गया, क्योंकि वह पास हो गया'''इतना कहकर कुछ क्षणोंके लिये वह ट्रक-ड्राइवर कुछ गहरे विचारमें डूब गया! फिर बोला—'यह सब ईश्वरकी लीला है भाई! नहीं तो कहाँ मैं, कहाँ दुर्घटनामें मारा गया मिल मजदूर और कहाँ उसका यह मैट्रिकमें पास होनेवाला बच्चा! निमित्तकी बड़ी बात है भाई'''' (अखण्ड आनन्द)

—'स्नेहाब्धि'

(६)

बच्चीकी बातका असर

मैं सिगरेटका शिकार हो चुका था। मेरे घरके सब लोग मुझे इस आदतके छुड़ानेके लिये लाख-लाख प्रयत्न करते रहे, पर मैं

* खरवाके रावसाहब श्रीगोपालसिंहजी बड़े भक्त थे। उनकी मृत्यु भी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करते-करते हुई थी। उस समयके 'कल्याण'में पं० झाबरमल्लजी शर्माद्वारा लिखित उनकी सफल मृत्युका पुण्य विवरण छपा था।—सम्पादक

टस-से-मस नहीं हुआ। मेरी पत्नीतक भी हार गयी। मेरे मित्र भी हार गये, पर मेरा दिल न पिघला। मैंने यह बुरा व्यसन नहीं छोड़ा!

एक दिन मैं संध्याके समय बैठकमें बैठा चुपचाप सिगरेट पी रहा था कि अचानक मेरी लड़की लज्जा कमरेमें आ गयी और मेरी गोदमें बैठकर मेरे गालोंको सहलाती हुई बोली—'पिताजी! आप सिगरेट क्यों पीते हैं? मास्टरानीजी-ने मुझे पढ़ाया है कि जो लोग सिगरेट पीते हैं वे जल्दी मर जाते हैं। आप भी जल्दी मर जायँगे, पिताजी! आप न पीजिये न।' इतना कहकर वह रोने लगी। मैं अपने आँसुओंको थाम रहा और उसको प्यार करते हुए मैंने कहा—'बेटा! मैं अबसे सिगरेट नहीं पीऊँगा।' यह सुनकर वह प्रसन्न हो एकदम अपनी माँके पास गयी। मैं प्रभुको धन्यवाद देने लगा कि 'हे प्रभु! तेरे बच्चे क्या नहीं कर सकते। तू कितना अद्भुत है। तेरी गति कौन जानता है।' तबसे अबतक बहुत साल बीत गये हैं, आज मेरी बेटी काफी बड़ी हो चुकी है। जब मैं उसे देखता हूँ तो मनमें कहता हूँ कि 'हे प्रभु! तू कितना दयालु है।'*

—श्रीओमप्रकाश गंडा

---

* भारतमें गत वर्ष ३२०० करोड़ सिगरेट बनी है, जब कि सन् १९५२।५३ में केवल १८०० करोड़ ही बनी थी। खेदकी बात है कि तंबाकूका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इसमें कोई लाभ तो है ही नहीं वरं इस युगके वैज्ञानिकोंने तंबाकूमें छः प्रकारके विषोंका पता लगाया है—(१) निकोटीन, (२) प्रूसिक एसिड, (३) पाइरीडीन, (४) कोलीडीन, (५) एमोनिया और (६) कार्बन मोनो ओक्साइड। और भी बहुत-से विष हैं। सब विषोंकी संख्या १८ तक हो चुकी है। आजके वैज्ञानिक एक पाउंड तंबाकूमेंसे इतना विष निकालते हैं, जिससे ३०० मनुष्योंकी मृत्यु हो सकती है। भाँति-भाँतिके रोग तो तंबाकूसे होते ही हैं। इस व्यर्थकी ही नहीं, सर्वथा हानिकर वस्तुकी भारतमें ९ लाख एकड़ जमीनमें खेती होती है और ७० करोड़ पाउंडकी उपज होती है। इससे किसानोंको प्रतिवर्ष १५ करोड़, सरकारको तंबाकूके निर्यातसे १५ करोड़की विदेशी मुद्रा तथा कर आदिसे ५० करोड़ रुपयेकी आमदनी होती है। यहाँकी उपजी तंबाकू ८० प्रतिशत यहीं खप जाती है। बड़े-बड़े समझदार इस विष-सेवन तथा विष-प्रचारमें लगे हैं। इस दुर्व्यसनके साथ ही चाय, अंडे, शराब, सिनेमा आदिके दुर्व्यसन भी बढ़ रहे हैं। देशका दुर्भाग्य है! —सम्पादक

(७)

भूलका प्रायश्चित्त तथा शुद्ध बुद्धिके विचार

मेरे प्रवासस्थित ग्राममें एक व्यक्ति रहता है, जो शिक्षित न होनेपर भी बुद्धिमान् है, किंतु पहले उसकी सारी बुद्धिमत्ता अपकर्मोंकी ओर ही उसे प्रोत्साहित कर रही थी। लगभग बीस वर्ष पहले उसके निकट ग्रामका एक सनकी-सा ब्राह्मण अपनी बहिनके यहाँ जा रहा था। मार्गमें इस व्यक्तिसे उस ब्राह्मणकी भेंट हुई। ब्राह्मणने अपने नवजात भागिनेयको देनेके लिये एक चाँदीके रुपयेकी अत्यन्त आवश्यकता बतायी। उस समय चाँदीके रुपयोंका प्रायः अभाव हो चला था। ब्राह्मणने अपने हाथकी सोनेकी अँगूठी इस व्यक्तिको दी और कहा कि 'इसे कहीं बन्धक रखकर मुझे एक चाँदीका रुपया ला दो।' इसने वैसा ही कर दिया।

कुछ दिनोंके बाद उक्त ब्राह्मणके पिताने रुपया वापस देकर अपनी अँगूठी माँगी, किंतु इसके मनमें लोभ हो गया था, अतः यह तरह-तरहकी आनाकानी करने लगा—बात जब कुछ आगे बढ़ी, तब इसने एक नकली (पीतलकी) अँगूठी दिखाकर असली अँगूठी पचा ली।

दस वर्षोंसे मुझे भी कृषि-कार्यके लिये उसी ग्राममें जाकर रहना पड़ रहा है। इस बीचमें एक बार उसने लौरिया चीनी मिलमें काम करने (स्थान पाने) के लिये मुझसे कुछ सहायता चाही। ईश्वरकी कृपा कहिये, संयोग बैठ गया; एक उच्च-पदस्थ तथा निकट सरोकारीका सिफारिशी पत्र जेन-मैनेजरके पास पहुँच गया। इससे मुझे भी पूर्ण विश्वास हो गया कि अब इसे काम अवश्य मिल जायगा। किंतु काम मिला नहीं।

कारणोंका अन्वेषण करते हुए मेरे मनमें यही बात बैठ गयी कि इसने जो उस ब्राह्मणकी अँगूठी अनुचित रीतिसे (विश्वासघात करके) हड़प ली है, वही स्वर्णस्तेय इसे दरिद्रतासे मुक्त नहीं होने देता। मैंने यह बात स्पष्ट शब्दोंमें उससे कही भी तथा उसने भी अपनी भूल तो स्वीकार की किंतु उसके प्रतीकारकी कोई बात नहीं की।

इधर इसे किसी तरह नहर-विभागमें काम मिल गया था; किंतु थोड़े ही दिनोंमें अपने असदाचरणके कारण इसे वहाँसे भी हट जाना पड़ा।

बहुत दिन पहले मेरे एक सम्बन्धी व्यक्तिने मेरे ही यहाँसे कुछ स्वर्ण-भूषण चुरा लिये थे। प्रसङ्ग-वश उसीकी चर्चा करते हुए एक दिन मैंने उसके सामने ही कहा कि 'सोना चुराना पञ्च महापातकोंमेंसे एक बड़ा भारी पाप है।' ईश्वरकी कृपासे बात उसके मनमें बैठ गयी। सुधरी बुद्धिने यथाशक्य प्रायश्चित्तकी उचित युक्ति सोची। कुछ दिनों बाद उसने आकर मुझसे कहा—'बाबू, मुझसे बड़ी भूल हो गयी है! अब मैं उस ब्राह्मणकी सोनेकी अँगूठी वापस कर देना चाहता हूँ।' मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैंने उसके विचारकी प्रशंसा करते हुए जिज्ञासा की—'क्या अभी वह अँगूठी वर्तमान है?' उसने अँगूठी लाकर दिखायी। मैंने भी वापस देनेकी पूरी प्रेरणा दी।

तबसे उस ब्राह्मणके गाँवके जिस-जिस व्यक्तिसे उसकी भेंट हुई, उस-उससे उसने संवाद भेजा कि पाँड़ेजी आकर अपनी अँगूठी ले जायँ। पाँड़ेजीके आनेमें कुछ विलम्ब हुआ। उसे कहीं बाहर जाना था। उसने अँगूठी मुझे देकर कहा—'पाँड़ेजी कल आनेवाले हैं। उनसे पाँच रुपये या वे जो भी दें, उसे ही लेकर यह अँगूठी उन्हें दे दीजियेगा।' पाँड़ेजी तो सनकी ही ठहरे, काहेको आते? उनके छोटे भाई दो-तीन व्यक्तियोंके साथ आये। मैंने रुपयेकी बात उठायी, तो उनके पास दो रुपये थे, सो उन्होंने दे दिये। मैंने बहुतोंके सामने अँगूठी उन्हें दे दी। सबोंने आश्चर्य प्रकट किया तथा धन्य-धन्य कहा! उसी समय कहींसे घूमते-फिरते मुखियाजी भी वहीं आ गये और उन्होंने इस कार्यकी प्रशंसा की।

इधर उसी व्यक्तिपर बेमतलब किसीको मारनेका केस हो गया था। सजा होनेकी सम्भावना तो नहीं किंतु उस गरीबके कुछ रुपये व्यर्थ खर्च हो रहे थे। इसपर मैंने एक दिन कुछ खेद प्रकट किया, तो उसने हँसकर कहा कि 'अच्छा होता है बाबू, मेरे अनुचित कमाये पैसे ही तो इस तरह निकल रहे हैं!' मैंने मन-ही-मन सोचा—'बुद्धि शुद्ध होनेपर ऐसे ही विचार होते हैं।'

—नन्दकिशोर झा

छिपे पापीकी प्रार्थना

क्रोध-मोह-मद-अघ भर्‌यौ, धर्‌यौ हृदय अभिमान।
सब कौं तुच्छ गनौं, करौं, सबही कौ अपमान॥
प्रभुवंचक, बंचक जगत्, निजबंचक, अघधाम।
फँस्यौ इंद्रियनके बिषयँ नित मैं भोग-गुलाम॥
प्रेमी, ज्ञानी, भक्त, सत् बड़े दूर की बात।
नरक-कीट मैं मोहवस, पापनिरत दिन-रात॥
मो सो अधम न पातकी या जगमें कोउ और।
स्वर्ग-भोगकी का कथा, नरकहुँ में नहिं ठौर॥
सब सौं नित सेवा लहौं, करौं भंड, उपदेस।
हिय मैं तनिक न कतहुँ कहुँ, संतपने कौ लेश॥
फूटै मेरो पाप-घट, घृना करैं सब लोग।
अपनी करनी के बिषम भोगूँ मैं सब भोग॥
प्रभु! मो कूँ यह दीजिये, करुनामय! बरदान।
जा सौं मेरे अघ कटैं, होय परम कल्यान॥

प्रकाशित हो गया ! *प्रकाशित हो गया !!*

मानस-पीयूष खण्ड ५

(अरण्यकाण्ड तथा किष्किन्धाकाण्ड)

दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द मूल्य ७.००, डाकखर्च २.०५।

अयोध्यानिवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीने मानस-पीयूषके अधिकाधिक प्रचारकी दृष्टिसे अपने पास बचा-खुचा जो स्टाक इसके पुनर्मुद्रणके सर्वाधिकार (कापीराइट) सहित गीताप्रेसको दिया था, उसमें अरण्यकाण्ड समाप्तप्राय था। इसके चुक जानेसे हमारा पाँचवाँ खण्ड अधूरा हो गया था। अनेकों प्रेमी सज्जन इसके शीघ्र प्रकाशनके लिये तकाजा करते थे। ईश्वरकी विशेष अनुकम्पासे अब यह छपकर तैयार हो गया है।

इस अरण्यकाण्डके तीन संस्करण बाहरसे निकल चुके हैं। गीताप्रेसके द्वारा इसका यह चौथा संस्करण है।

आशा है, मानस-प्रेमी पाठक इससे विशेष लाभ उठायेंगे।

संस्कृति-मालाके दो भाग

सम्मान्य क० पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डे (मन्त्री, बिड़ला-शिक्षा-ट्रस्ट, पिलानी) ने कक्षा ३ से ८ तकके विद्यार्थियोंके लिये 'संस्कृतिमाला'के छः भाग कृपापूर्वक अपने यहाँके आदरणीय विद्वान् लेखक-लेखिकाओंसे लिखवाकर भेजे थे। उनमेंसे कक्षा ७ और ८ के लिये उपयोगी भाग ५ और ६ छप गये हैं। इन दोनों भागोंके लेखक पं० श्रीव्रजभूषणलालजी शर्मा हैं।

भाग ५—कक्षा ७ के लिये

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ९६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग।

इसमें ७ जातक कथाओंके साथ-साथ चाणक्य, चरक, कालिदास, कर्ण, दमयन्ती, बुद्ध, महावीरके जीवन-का संक्षिप्त परिचय और तक्षशिला एवं नालन्दाका इतिहास तथा शिष्टाचारके २१ नियम दिये गये हैं।

भाग ६—कक्षा ८ के लिये

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ १००, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग।

इसमें सातवाहनकी कहानी, चूहा सौदागर, सूर्यके घोड़ोंके रंगका विवाद, कभी खाली न होनेवाले घड़ेकी कहानी, दानवीर दानव नमुचि, सिंहपराक्रम, राजा त्रिविक्रमसेन और भिक्षुक, तपोदत्तकी कहानी, धवलमुख और उसके दो मित्र, पवित्र शूकर, बंदर और सिंहपरिवार, भरतमुनि, कपिलमुनि, भामती, रामकृष्णपरमहंस, दयानन्द, व्रजका रास-नृत्य, मणिपुरी रास-नृत्य, गरबा, कथकलीकी कहानियाँ हैं। ये बालकोंके लिये परम उपदेशप्रद हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७५

'कल्याण'के जनवरी १९६१ के विशेषाङ्क

'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क'का दूसरा संस्करण

(एक लाख सोलह हजार प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया। अतः शीघ्रतापूर्वक १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है।)

कल्याणका यह 'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क' प्रसिद्ध योगवासिष्ठ महारामायणका संक्षिप्त साररूप है। योगवासिष्ठ एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वका प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें एक ही तत्त्वकी विविध सुन्दर कथाओंके तथा सुन्दर रोचक युक्तियोंके द्वारा सफलरूपसे स्थापना की गयी है। योग, योगसाधन, सदाचार, शास्त्रविधिपालन आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भी बहुत ही प्रभावशाली विवेचन किया गया है। इसकी कथाएँ भी बड़ी सुन्दर हैं। इस अङ्कमें ७०० पृष्ठोंकी सामग्री है। बहुरंगे १६, दुरंगा १, सादे १० तथा १३६ रेखाचित्र हैं। अङ्क बहुत सुन्दर तथा बहुत ही उपयोगी है। हिंदीमें योगवासिष्ठका इस प्रकारका सारसंग्रहरूप यह पहला ही ग्रन्थ है और केवल ७.५० में ही उपलब्ध है।

इस अङ्कको जनताने इतना पसंद किया कि ११६००० का पहला संस्करण समाप्त होनेपर १५००० का दूसरा संस्करण छापा गया। उसकी भी १०००० प्रतियाँ बहुत शीघ्र बिक चुकी हैं।

सजिल्द विशेषाङ्क मँगवानेवाले सज्जन जिल्द-चार्जसहित रु० ८.७५ मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें।

कल्याणके २४वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' अब भी प्राप्य है

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० डाकव्ययसहित। साथ ही इसी वर्षका दूसरा तथा तीसरा अङ्क बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियोंके साथ-साथ हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्ध-तत्त्व, हिंदू संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौंसठ कलाएँ, गान्धर्वविद्या, वाद्य-यन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौ-निर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

डाकखर्च—सबमें हमारा है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**